लेखक एवं प्रकाशक

प्रेमचंद रवजीभाई कोठारी

अनुवादक

डॉक्टर जगदीशचंद्र जैन

एम. ए. पी. एच. डी.

प्रकाशक :
प्रेमचंद रवजीभाई कोठारी
नवनीत नगर, ब्लॉक नं. ९,
महात्मा गाँधी रोड, घाटकोपर,
बम्बई - ७७

"...आश्चर्यकारक बात तो यह है कि इस कलिकाल ने, थोड़े ही समय में, परमार्थ को घेर कर, अनर्थ को ही परमार्थ बना डाला है..."

—श्रीमद् राजचन्द्र

प्रथम संस्करण :
१९६७

मूल्य : ३=०० रुपया

मुद्रक :
श्री. दीनानाथ पां. देशपांडे
श्रीपाद प्रिंटिंग प्रेस,
१२, सदाशिव स्ट्रीट, बम्बई - ४

श्रीमद् राजचन्द्र

और

भक्तरत्न

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्यात्म युग प्रवर्तक

श्रीमद् राजचन्द्र

अनन्त काल में भटका, न मिला सद्गुरु सन्त,
पंचम काल में प्रभु मिले, राज नाम भगवन्त।

शुद्ध सन्त चरण नमूँ, माँगूं प्रेम प्रसाद,
दया करके दीजिए, हरि रस अमृत स्वाद।

वाणी वर्णन न कर सके, सद्गुरु का स्वरूप,
बुद्धि बल पहुँचे नहीं, उपमा रहित अनूप।

प्रथम पूरण प्रेम से, वंदू सद्गुरु चरण,
ताप टले संसार का, मिटे जन्म औ मरण।
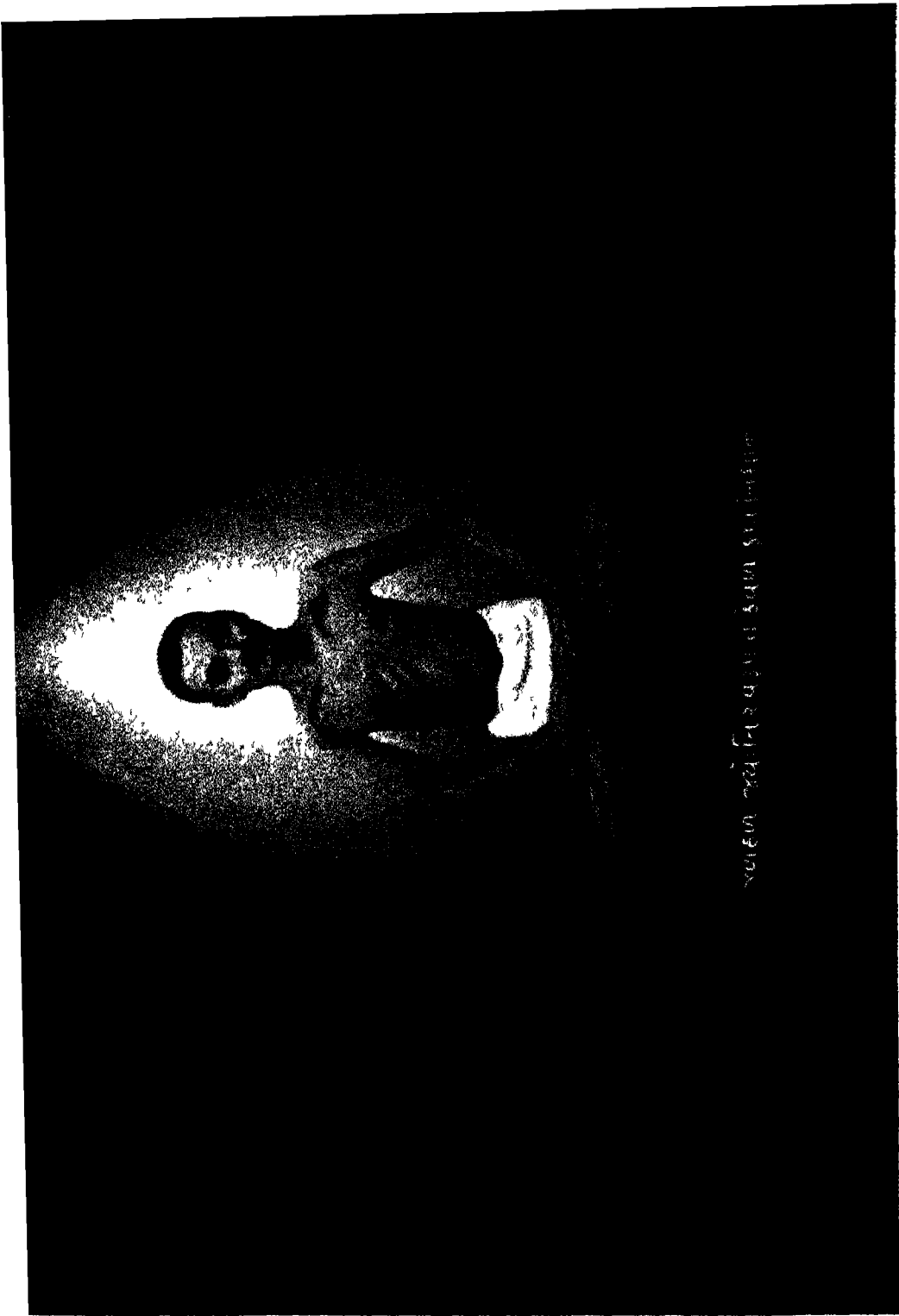
अनुवादक की ओर से

सन्तों की परम्परा हमारे देश में बहुत पुरानी है। उत्तर भारत, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में समय-समय पर सन्त-महन्तों ने जन्म धारण कर अपने मानवतावादी उपदेशों से जनसमूह को कल्याणमार्ग की ओर प्रेरित किया है। इनमें कबीर, मीरा, सुन्दरदास, सहजानन्द, नरसी मेहता, अखा, दयाराम, छोटम, ज्ञानेश्वर, रामदास आदि कितने ही सन्तों का उल्लेख श्रीमद् राजचन्द्र ने मुमुक्षुओं को लिखे हुए अपने पत्रों में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक किया है।

श्रीमद् राजचन्द्र का जन्म सन् १९२४ में काठियावाड के अन्तर्गत मोरबी राज्य के ववाणिया नामक गांव में हुआ था। लघुवय से ही उन्हें अपूर्व तत्वज्ञान की प्राप्ति हुई थी। स्मरण-शक्ति उनकी अद्भुत थी जिससे कि कोई भी बात एक बार देखने या सुनने से उनके हृदयपटल पर अंकित हो जाती थी। शतावधान के प्रयोग दिखाकर उन्होंने कितने ही लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था।

लेकिन इन सब बातों से भी अधिक महत्वपूर्ण थी उनकी आत्मज्ञान प्राप्त करने की जूझ-अन्तर्मुखी होकर निज स्वरूप का साक्षात्कार करने की अनुपम लगन। गृहस्थाश्रम में उन्होंने प्रवेश किया था और हीरे-जवाहरात के वे अत्यन्त कुशल व्यापारी थे, फिर भी लौकिक महत्वाकांक्षाओं से वे सदा दूर रहे। दुनिया में रहकर भी दुनियाकी मान-प्रतिष्ठा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया, निष्काम भावना से ही वे अपने लौकिक कर्तव्यों का पालन करते गये।

श्रीमद् का कहना था कि दुनिया में झूठ, फरेब, अहंकार और पाखण्ड की अति हो गयी है। इन सब प्रवृत्तियों को देखकर उनका निश्छल हृदय करुणा से आर्द्र हो उठता। जितना दुख बरछी भोंकने से होता है, उससे भी कई गुना अधिक दुख उन्हें सांसारिक विषमता को देखकर होता।

श्रीमद् राजचन्द्र दुनिया का कल्याण करने आये थे, उसे सन्मार्ग दिखाने आये थे, किन्तु पहले अपना कल्याण तो कर लें! यही अन्तर्द्वन्द्व उनके मन में चला करता था।

जैनधर्म के आग्रह से मोक्ष मानना उन्होंने छोड दिया था। वैराग्य और उपशम की ओर उनकी प्रवृत्ति दिन-पर-दिन बढती जाती थी। केवल आत्मधर्म को ही वे समस्त धर्मों का मूल स्वीकार करते थे। धर्म को उन्होंने एक अत्यंत गूढ वस्तु कहा है, जो किसी बाड़े में रहकर नहीं, बल्कि अंतर्संशोधन से प्राप्त होती है। उनका कहना था कि सांसारिक प्रपंचों में रचे-पचे जीव कितनी ही बार उपयोग चूक जाने से किसी को प्रसन्न करने अथवा किसी के द्वारा प्रसन्न किये जाने में, अथवा अपने मन की निर्बलता के कारण किसी के समीप पहुँचकर मंद हो जाने में अपने जीवन की सफलता समझते हैं, लेकिन उनकी यह भूल है।

यह हमारा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि श्रीमद् राजचन्द्र जैसा अलौकिक महापुरुष केवल ३४ वर्ष की अवस्था में इस संसार को छोडकर चल बसा, और हम वहीं-के-वहीं रह गये।

'श्रीमद् राजचन्द्र अने भक्तरत्नो' पुस्तक का अनुवाद पाठकों के सामने प्रस्तुत है। मेरे जैसे बहुधंधी व्यक्ति से इस अनुवाद को पूर्ण करा लेने का श्रेय मूल पुस्तक के लेखक और श्रीमद् राजचन्द्र के परम भक्त, परम जिज्ञासु श्री प्रेमचन्द रवजीभाई को है। मैं किन शब्दों में उनके प्रति आभार व्यक्त करूं? आशा है, हिन्दी के पाठक लाभान्वित होंगे।

१ अप्रैल, १९६७

—जगदीशचंद्र जैन

प्रकाशक का नम्र निवेदन

महादेव्याः कुक्षिरत्नं, शब्दजितवरात्मजम्।
राजचन्द्रमहं वन्दे तत्त्वलोचनदायकम्।

काल निरवधि है। इसका न आदि है, न अन्त। ऐसे अनन्त काल से जीव जन्म मरण के फेर में पड़ा हुआ है। पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं। उसमें किसी सत्पुण्य के योग से ही मनुष्यजन्म मिलता है।

पुण्य कर्म के समुच्चय से मनुष्य अवतार मिला,
समझो तो सुलभ मुक्ति का द्वार मिला।
ना समझो तो चहुं दिस घोर घोर अंधकार।
अटके बिन भटका करो, आवे नहीं कहीं पार।

ऐसी मनुष्य देह मिल जाने पर भी कुलधर्म के अनुसार जीव धर्म-मत से प्रवृत्ति करता है; अर्थात् लौकिक रूढि के अनुसार वह धर्म की आराधना करता है और अन्त में धर्माचरण करने का सन्तोष अनुभव करता हुआ जान पड़ता है; लेकिन परितोष नहीं होता। वह बन्धन-मुक्त नहीं हो सकता। 'जन्म-मरण से रहित होने की' अनुभूति उसे नहीं होती।

'जन्म-मरण रहित होना' अर्थात् मुक्ति, मोक्ष ब्राह्मी-दशा उसे जो भी कहो, उस परम पद की प्राप्ति का कारण राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि की शून्यता है। इन सबसे रहित दशा प्राप्त होने पर आत्मा को निजस्वरूप का भान होता है, परमात्म-भाव की झाँकी मिलती है। समस्त कर्मों का नाश होने पर आत्मा धवल हंस के समान शुभ्र विरज निर्मल आकाश-मंडल में स्वैर विहार करती है। न उसे दिशा का बंधन है और न काल का। आत्मा को शुद्ध परमात्म-स्वरूप का अनुभव होता है। मुक्ति का परम पद प्राप्त होता है और जीवन सफल हो जाता है।

राग, द्वेष, अज्ञान, यह मुख्य कर्म की ग्रंथि,
निवृत्ति होय जिससे, वही मोक्ष का पंथ। १

जीव को जब सत्पुण्य का उदय होता है, तभी ऐसा अपूर्व अवसर प्राप्त होता है। उसी समय उसे आत्मानुभवी अलौकिक सत्पुरुष का योग मिलता है।

---

१ राग, द्वेष, अज्ञान—ए मुख्य कर्म नी ग्रंथ,
थाय निवृत्ति जेहथी, तेज मोक्ष नो पंथ।—**श्रीमद् राजचन्द्र** (आत्मसिद्धि १००)

" जन्म, जरा, मरण आदि का नाश करने वाला आत्मज्ञान जिसमें रहता है, उस पुरुष का आश्रय ही जीव के जन्म, जरा मरण आदि का नाश कर सकता है, क्योंकि वही यथासंभव उपाय है ।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

अनादि काल से जीव की दृष्टि बाह्यमुखी होने, और चर्मचक्षु के विषय केवल जड विनाशी द्रव्य को ही देख सकने के कारण, सत्पुरुष को पहचानने अथवा उसकी अंतरंग दशा को देखने का सौभाग्य उसे प्राप्त नहीं हो सकता। उसे देखने के लिए अन्तर्चक्षु—अन्तर्मुखी प्रवृत्ति—प्रकट होनी चाहिए। जिससे अजरामर अविनाशी आत्मा का स्वरूप जाना जा सके।

" बिना 'नयन' पावे नहीं, बिना नयन की बात "

—श्रीमद् राजचन्द्र

बत्ती विन, तेल बिन, सूत्र बिन जो जलता है
अचल झलके सदा अनल दीपक,
नेत्र बिन निरखना, रूप विन परखना,
बिन जिह्वा के सरस रस पीना......[1]

यह स्थिति कहां से प्राप्त हो !

अंतर्चक्षु की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम उपाय है सत्पुरुष के दर्शन—समागम और सद्‌बोध के श्रवण, मनन और चिन्तन से उसकी आराधना कर, अपूर्व प्रेमपूर्वक श्रद्धाभक्ति से उसकी आज्ञा का पालन कर, और विनाशी समस्त जड द्रव्यों के प्रति मोह—ममत्व का रंग नष्ट कर, वैराग्य के बल से, अन्तर्संशोधन द्वारा, आत्मदृष्टि होने पर अन्तर्चक्षु खुलते हैं। और तभी अविनाशी शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव करने का अपूर्व प्रसंग प्राप्त होता है।

" हृदय नयण निहाले जगधणी
महिमा मेरू समान......जिनेश्वर।"

—श्री आनंदघनजी

---

१ बत्ती विण, तेल विण, सूत्र विण जो वळी
अचळ झलके सदा अनल दीवो,
नेत्र विण निरखवो, रूप विण परखवो
वण जिह्वाए रस सरस पीवो...

—नरसिंह मेहता

लेकिन संसार–सेवन में जीव का जो मोह–ममत्व रहता है और फिर भी वह स्वरूप–दर्शन की अपेक्षा रखे तो वह आकाश–कुसुम की भांति है। अखा के शब्दों में कह सकते हैं—

" शश सींगों का जहाज़ बनाया, मृगतृष्णा में जा कर तिरा,
दो वंध्या सुत जहाज़ चढ़े, आकाश पुष्प सुगंध भरे
यह असंभव जैसी बात।" १

सचमुच यह व्यर्थ ही का शोरगुल है धुआँ पकड़ने का निरर्थक प्रयास है।

कारण कि ज्ञानदशा का प्रतिपक्षी है मोह, और अभी तक इससे छुटकारा नहीं मिला। जितने अंश में यह क्षीण हो जाता है, उतने ही अंश में ज्ञानदशा प्रकट होती है।

(मोह) चन्द्रमा की कला से शून्य अमावस की रात्रि, (ज्ञान) पूर्णमासी के दिन सोलह कलाओं से शोभा को प्राप्त अमृत की वर्षा करने वाले चन्द्रराज....श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

" मोहभाव जहां नाश हो अथवा होय प्रशांत,
वह कहिए ज्ञानी दशा, बाकी कहिए भ्रान्त।" २

" सबसे पहले मोह से मोह अवश्य तोड़ना चाहिये " —**श्री पद्मनंदी आचार्य**

श्री जिन वीतराग देव का मूल मार्ग, मानव मात्र के लिए कल्याणकारी है—इसमें धर्म, गच्छ, मत–मतान्तर, संघ–सम्प्रदाय, जाति, लिंग अथवा वेश के लिए स्थान नहीं। वह जीव–मात्र के लिए उपयोगी है।

" गच्छ मत की जो कल्पना, वह नहीं सद्व्यवहार,
भान नहीं निज रूप का, वह निश्चय नहीं सार।" ३

---

१ ससाशिंगनुं वहाणज कर्युं, मृगतृष्णामां जइने तर्युं
वंझासुत बे वहाणे चड्या, खपुष्प बसाणा भर्या
ना जेवी वात थई।

२ मोहभाव क्षयहोय ज्यां, अथवा होय प्रशान्त,
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रान्त।

३ गच्छ मत नी जे कल्पना, ते नहीं सद्व्यवहार,
भान नहीं निज रूपनुं, ते निश्चय नहीं सार।

—**श्रीमद् राजचन्द्र**, आत्मसिद्धि, १३९, १३३

" वह मारग जिन का पा किया,
अथवा पाया निज स्वरूप। " [1]

संसार के समस्त दर्शनों में सर्वोपरि स्थान प्राप्त करने वाला है वीतराग दर्शन। वह आज कैसी दशा को प्राप्त हो गया है, यह सर्व-विदित है।

" इचना जिन उपदेश की परमोत्तम तिहुकाल,
इनमें सब मत रहत हैं, करते निज संभाल। " —श्रीमद् राजचन्द्र

ऐसी विशाल स्याद्वाद शैली से न्यायपूर्ण वीतराग दर्शन के मोक्ष मार्ग का अन्तरंग रहस्य प्राप्त कर, उसका प्रकटरूप से अनुभव कर, इस कलिकाल में प्रकट अनुभव स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले वणिक् गृहवेश में रहनेवाले, ऐसे निर्ग्रन्थ महात्मा श्रीमद् राजचन्द्र हैं। उनका अनुभव, ज्ञान और साहित्य मनुष्य-मात्र को सत्य मुक्ति का मार्ग बतानेवाला दीपक स्वरूप है। यह अनन्त प्रकाश को फैलाता है।

" ....जिसे आत्मक्लेश दूर करना है, जो अपना कर्तव्य जानने के लिए उत्सुक है, उसे श्रीमद् (राजचन्द्र) के लेखों में से बहुत कुछ मिल सकेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। फिर चाहे वह हिन्दू हो अथवा अन्य किसी धर्म का अनुयायी....

—महात्मा गांधी

इस प्रकार मुक्ति-मार्ग के आन्तरिक रहस्य को इस वणिक् गृहवेशी महात्मा ने अखंड आत्मजागृतिपूर्वक प्राप्त कर, अर्थात् हरिरस को बहुत महंगी कीमत पर पाकर उस अनुभव-ज्ञान साहित्य के रसानंद की अनुपम भेट दी। इस ज्ञान गंगा से मनुष्य-मात्र अपनी आत्मोन्नति का साधन कर सके, ऐसी सरलता प्रदान की।

पंचमकाल की प्रबलता युक्त आज के जडता-प्रधान इस कलिकाल में, जहां मनुष्य के मन में केवल मायिक सम्पत्ति की ही अभिलाषा होने के कारण, चैतन्य (अध्यात्मिक) की महिमा नहीं के समान रह गयी है, ऐसे काल में चैतन्य की शुद्ध ज्वलन्त ज्योति प्रज्वलित रखते हुए, कर्म-बंधन से दुखी संसार के जीवों का करुणा-वृत्ति से उद्धार करने की भावना रखनेवाले इन निग्रन्थ महात्मा श्रीमद् राजचन्द्र की जन्म शताब्दी वि. सं. २०२४, कार्तिक पूर्णिमा के दिन पड़ती है।

---

१ तेह मारग जिन नो पामियो रे किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप —श्रीमद् राजचन्द्र

शताब्दियां तो हमने बहुत-सी मनाई हैं और मनाते हैं, किंतु यह एक अनोखी शताब्दी हमें मनानी है। परमात्मा स्वरूप को प्राप्त करने के मार्ग की, इस त्रिकाल सत् भगवान महावीर के हृदय के गुप्त रहस्यों तथा इस अलौकिक ज्ञान-प्रभावना के उत्तम कार्य में, हम जाने-अजाने उत्साहपूर्वक, तन-मन-धन से भाग लेकर, सत् पुण्य को प्राप्त कर, आत्म-कल्याण के मार्ग की ओर झुकते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन का केवल यही उद्देश्य है कि यदि जनसमुदाय इस महापुरुष के आध्यात्मिक जीवन की झाँकी से परिचित हो जाये तो श्रीमद् राजचन्द्रजन्म-शताब्दी महोत्सव में, जिसे वि. सं. २०२४ में हमें मनाना है, रुचिपूर्वक भाग लेकर, आत्मकल्याण के मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है।

इस पुस्तक में श्रीमद् राजचन्द्र का आध्यात्मिक संक्षिप्त जीवन, तथा इस निर्ग्रन्थ महात्मा का कृपाप्रसाद पाकर, अमोल आत्मज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त करने वाले महाभाग्यशाली श्रीमद् लघुराज स्वामी, श्री सोभागभाई, श्री जूठाभाई तथा श्री अम्बालाल भाई का संक्षिप्त जीवन भी दिया गया है।

इसी तरह श्रीमद् राजचन्द्र तथा अन्य महात्माओं के गृह का अल्प ज्ञान प्रसाद परोसकर, सत्य-मुक्ति मार्ग की संक्षिप्त रूपरेखा, श्रीमद् के वचनामृत से १०१ रत्न कणिकाएं, तथा श्रीमद् लघुराज स्वामी के उपदेश बोध से कतिपय बोध वाक्य दिये गये हैं। अन्त में गुरु-भक्तों की महिमा प्रदर्शित करने वाला 'श्री सोभाग्यतत्व गीता' नामक काव्य दिया गया है।

इन महापुरुषों के आध्यात्मिक जीवन की झांकी लिखते समय हमेशा भय रहता था कि इस महापुरुष की शुद्ध आत्मज्ञान की दैदीप्यमान तेजोमय ज्योति को यथार्थ रूप में प्रकाशित करने में यदि कहीं थोड़ी भी त्रुटी रह गई तो हम अपराधी तो नहीं बन जायेंगे?

इन महात्माओं की असीम, अगाध, अन्तर्दशा का वर्णन करना, यह सचमुच मेरी शक्ति के बाहर की बात है, क्यों कि न मैं ज्ञानी हूं, न लेखक और न कवि! मैं तो केवल सत्पुरुषों के चरण-कमलों का पुजारी हूं। प्रातःस्मरणीय करुणामूर्ति, श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री) के दीर्घकाल के सत्संग और उनके सद्बोध के प्रताप से,

अंतर में परमात्म–स्वरूप सद्गुरु भगवान श्रीमद् राजचन्द्र देव के प्रति, तथा उनके इन महान् भाग्यशाली भक्तों के प्रति प्रेम से उछलती हुई तरंगों के कारण ही यह साहस किया है। सुज्ञ वाचक, यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो क्षमा....

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने समय का अभाव होते हुए भी, मेरा नम्र अनुरोध स्वीकार कर, सरस और प्रवाहमय भाषा में जो हिन्दी अनुवाद करने की कृपा की है, उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

जिससे जन–साधारण को विशेष रूप से ज्ञान की उपलब्धि हो सके, इसलिए इस पुस्तक का मूल्य भी कम ही रक्खा है।

नवनीत नगर, ब्लॉक नं. ९,
महात्मा गांधी रोड, घाटकोपर, बम्बई–७७
कार्तिक पूर्णिमा, सं. २०२२

संत सेवक,
प्रेमचन्द रवजीभाई कोठारी

ॐ

सत्य मुक्ति मार्ग

(संक्षिप्त रूपरेखा)

चार गतियों में परिभ्रमण करते-करते जीव के शुभ पुण्य के संचय से अमोल मनुष्य देह प्राप्त होता है। जन्म-मरण से मुक्त होने का जो योग देवगति में भी देवों को दुर्लभ है, वह मनुष्य भव में जीव के सत् पुण्य योग से सत्धर्म के कारण सुलभ होता है। ऐसी मनुष्य देह के अनन्त बार प्राप्त होने पर भी, जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए अथक पुरुषार्थ करने पर भी, अभी तक जीव को जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिला।

बहु पुण्य के पुंज से, शुभ देह मानव का मिला।
तो भी अरे भव चक्र का, आंटा नहीं कोई टला। १

पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्
पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

—श्री शंकराचार्य

देह प्राप्त होने पर मनुष्य जिस कुल में जीव जन्म लेता है, उस कुलधर्म के अनुसार वह धर्मकार्य करता है। धर्मकार्य करने से पुण्य की प्राप्ति के कारण, जगत् का सर्वोपरि सुख प्राप्त होने की अभिलाषापूर्वक, लौकिक दृष्टि से, प्राणि-मात्र धर्म करने के लिए प्रेरित होता है। उसी को वह सत्धर्म मानता है। सत्धर्म का फल मुक्ति होता है।

सत्धर्म का स्वरूप क्या है? पूर्वकाल के महात्माओं ने भी धर्म के सम्बन्ध में लिखा है—

धरम धरम करता सब जग फिरै, धरम का न जाने हो मर्म···जिनेसर
धरम जिनेसर चरण गह्या फिर, कोई न बांधे हो कर्म···जिनेसर

—श्री आनंदघनजी

---

१ बहु पुण्यकेरा पुंज थी शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तो ये अरे! भवचक्रनो, आंटो नहिं एक्के टळ्यो।

—श्रीमद् राजचन्द्र मोक्षमाला, अमूल्य तत्व विचार ६७

" परघर देखत धर्म तुम फिरो, निज घर न लहो रे धर्म,
जैसे न जाने रे मृग कस्तूरिया, मृगमद परिमल मर्म,
जैसे वह भूला रे मृग दिसि दिसि फिरै, लेने मृगमद गंध,
वैसे जग ढूंढे रे बाहर धर्म को, मिथ्या दृष्टि रे अंध।
जाति–अंध का दोष नहीं, जो न देखे रे अर्थ,
मिथ्या दृष्टि रे उससे भी अधिक, माने अर्थ अनर्थ।"

—श्री यशोविजयजी

धर्म के सत्यस्वरूप को प्राप्त करने के लिए, देखिए—

"धर्म बहुत गूढ़ वस्तु है, वह बाह्य संशोधन से मिलनेवाली नहीं। अपूर्व अन्तर्संशोधन से वह मिलता है। वह अन्तर्संशोधन किसी महाभाग्य सद्‌गुरु के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

जीव के सत् पुण्य के उदय से आत्मानुभवी सत्पुरुष का संयोग होता है। उसके दर्शन, सत् समागम और उसके सद्‌बोध के प्रताप से, जीव को समझ पड़ता है कि सत्धर्म, सत्य मुक्ति–मार्ग सत्य द्वारा ही निर्मित है। और उसके समस्त साधन भी सत् के ही -ने हैं।

सत्, सत्पुरुष, सत्संग, सद्‌बोध, सत्शास्त्र, सत् पुरुषार्थ, सद्‌विचार, सद्‌धर्म।

सत्—त्रिकाल सत्परमात्मा (आत्मा का शुद्ध स्वरूप) आत्मा।

सत्पुरुष—आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त, रात–दिन निज स्वरूप में रमण करनेवाला परम पुरुष।

सत्संग—असत् देह और संसार की असारता समझ में आने पर, सत् का (आत्मा का) रंग लगानेवाला योग।

सद्‌बोध—'मैं कौन हूं' इस सत्य स्वरूप का भान करानेवाला उपदेश।

सत्शास्त्र—विश्व के छः द्रव्यों का ज्ञान कराकर आत्मा को निज स्वरूप का पहिचान करानेवाला सहायक सद्‌बोध।

सत्पुरुषार्थ—आत्मस्वरूप की (निज स्वरूप की) प्राप्ति करानेवाली बाह्याभ्यन्तर अन्तरंग दशा तथा इसी प्रकार मन, वचन और काय योग की प्रवृत्ति।

सद्विचार—जिससे आत्मसम्बन्धी विचारों का उद्भव हो, जिसकी पूर्णता के साथ स्वरूप की प्राप्ति हो, ऐसा सद्विचार।

सत्धर्म—वस्तु के (आत्मा के) शुद्ध स्वभाव में परिणमन प्राप्त करना।

सत्धर्म में प्रवेश करने के लिए जीव को पहले से ही व्यवहार शुद्धि करनी होगी। अर्थात् सत्य, न्याय, नीति, प्रामाणिकता इत्यादि का व्यवहार में पहला स्थान रखना पड़ेगा जिसके कि उपदेश, ज्ञानादि की सफलता हो।

"जो मुमुक्षु जीव[1] गृहस्थ व्यवहार में आचरण करता हो, उसे अखंड नीति का मूल पहले आत्मा में स्थापित करना चाहिए, अन्यथा उपदेश आदि निष्फल होते हैं।"

द्रव्य आदि उत्पन्न करने के लिए संपूर्णतया न्यायसम्पन्न रहने का नाम नीति है। इस नीति पर आचरण करते हुए, प्राणों का नाश होने की नौबत आने पर, त्याग और वैराग्य अपने वास्तविक रूप में प्रगट होते हैं, और उसी से जीव को सत्पुरुष के वचन तथा आज्ञा धर्म की अद्भुत सामर्थ्य, उसका माहात्म्य और रहस्य समझ में आता है; तथा समस्त वृत्तियों को अपने रूप में प्रवृत्ति करने का मार्ग स्पष्ट होता है।

देशकाल और संग आदि का विपरीत योग, प्रायः तुम्हें रहता है। इसलिए बारम्बार क्षण-क्षण में और प्रत्येक कार्य में सावधानीपूर्वक नीति आदि धर्मों में प्रवृत्ति करना योग्य है। तुम्हारी तरह जो जीव कल्याण की अभिलाषा रखता है और प्रत्यक्ष सत्पुरुष का जिसे निश्चय है, उसे प्रथम भूमिका में यह नीति मुख्य आधार है। जो जीव समझता है कि उसे सत्पुरुष का निश्चय हो गया है, परन्तु उसे यदि उपर्युक्त नीति की

---

१ मुमुक्षु–मोह और मोह दशा के स्थानकों से अपनी रुचि को हटाकर केवल मुक्त होने की अभिलाषा रखनेवाला पुरुष।

"सब प्रकार की मोहासक्ति से विरक्त होकर केवल मोक्ष के लिए प्रयत्न करने का नाम मुमुक्षुता है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

प्रवक्तता न हो, तथा वह कल्याण की याचना करे और कल्याण की बातें करे, तो यह निश्चय ही सत्पुरुष को ठगने जैसा है। यद्यपि सत्पुरुष तो आकांक्षा रहित है, इसलिए ठगे जाने की संभावना नहीं। फिर भी इस प्रकार से प्रवृत्ति करनेवाला जीव अपराधी होता है। इस बात पर बारम्बार तुम्हें तथा तुम्हारे समागम की इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओं को ध्यान देना चाहिए। यह बात कठिन है, इसलिए इसका होना संभव नहीं, यह कल्पना मुमुक्षु के लिए अहितकारी है और उसका त्याग देना ही योग्य है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र (पत्र नं. ४९६)

असत्य, अनीति, अन्याय और अप्रामाणिकता से सत्धर्म में प्रवेश नहीं किया जा सकेगा। व्यवहार सत्य के बिना परमार्थ सत्य (शुद्ध आत्मस्वरूप) कहां से प्रकट हो सकता है ?

" वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

" सत्पुरुष के उपदेश का रहस्य यही है कि धर्म ही वस्तु का शुद्ध स्वभाव (आत्मा का शुद्ध स्वभाव) है।" वह बाह्य दृष्टि से—लौकिक दृष्टि से—अनन्त बार धर्म करने पर भी प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये जो वस्तु बाह्य दृष्टि से प्राप्त होने वाली नहीं है, ऐसा अन्तर में विश्वास होने से, वह जीव अन्तर में 'मैं कौन हूं' इस सत्य स्वरूप को अपनी आत्मा में खोजने के लिए प्रेरित होता है। अथक पुरुषार्थ से अपने (देह से भिन्न) अस्तित्व का भी विश्वास होता है और आत्मोन्नति के मार्ग को अवरुद्ध करने वाले दोष भी दृष्टिगोचर होते हैं (निज दोष दर्शन)।

अनादिकाल से आत्मा को प्रिय लगने वाले अज्ञानयुक्त दोषों, मान, पूजा, ख्याति, सत्कार, अहंभाव, मोह–ममता, मिथ्यात्व, कषाय, राग–द्वेष इत्यादि–को पहचाने बिना, और उन्हें अपनी उन्नति में विघ्नकारक समझे बिना, उन दोषों के दूर करने का प्रयत्न किस प्रकार हो सकता है ?

"मैं तो दोष अनन्त का, भाजन हूँ करुणाल।"

हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ।

—श्रीमद् राजचन्द्र

अपने दोषों को अन्तरंग से पहिचान कर उन्हें दूर किये बिना गुणों का प्रकट होना कैसे संभव है !

"....जगत् को सुन्दर दिखाने के लिए अनन्त बार प्रयत्न किया, लेकिन उससे सुन्दर नहीं हुआ। क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमण के हेतु अभी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। यदि आत्मा का एक भी भव श्रेष्ठ हो जाय, और वह उस प्रकार व्यतीत किया जा सके तो अनन्त भव की कसर निकल जाय—यह बात में लघुत्व भाव से समझा हूँ और ऐसा करने में ही मेरी प्रवृत्ति है। इस महाबंधन से रहित होने में जो—जो साधन और पदार्थ श्रेष्ठ लगें, उन्हें ग्रहण करना, यही मान्यता है। तो फिर उसके लिए जगत् की अनुकूलता या प्रतिकूलता क्या देखना ! वह चाहे जो बोले, लेकिन यदि आत्मा बंधन से रहित होती हो, समाधि की दशा प्राप्त करती हो, तो वैसा कर लेना। इससे यश-अपयश से सदा के लिए रहित हुआ जा सकेगा....जैसे बने वैसे निर्मोही होकर मुक्त दशा की इच्छा करना....जगत् के समस्त दर्शनों की—मतों की—श्रद्धा को भूल जाना। जैन-सम्बन्धी सब विचारों को भूल जाना; केवल सत्पुरुषों के अद्भुत योगस्फुरित चरित्र में ही उपयोग को प्रेरित करना....उपयोग ही साधना है....मै किसी गच्छ में नहीं, केवल आत्मा में हूँ, यह भूलना नहीं।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

आनादिकाल से बाह्य दृष्टि से—लौकिक दृष्टि से—किए हुए धर्म में त्याग, वैराग्य, संयम, यम, नियम, जप, तप, वनवास और हठयोग आदि साधनों के अनेक बार करने पर भी, वे सब हमें बंधन मुक्त क्यों न करा सके ?

दुर्बल देह और मास उपवासी जो है माया रंग रे,
तो भी गर्भ अनंत होंगे बोले दूजा अंग रे। १

श्री यशोविजयजी ने भी कहा है—

कष्ट करो संयम धरो, गालो निज देह,
ज्ञान दशा बिन जीव को नहीं दुख का छेद।

---

१ दुर्बल देह ने मास उपवासी, जो छे माया रंगरे,
तो पण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजू अंगरे।

—श्रीमद् राजचन्द्र

" अनादिकाल के परिभ्रमण में अनन्त बार शास्त्र का श्रवण, अनन्त बार विद्या का अभ्यास, अनन्त बार जिन–दीक्षा, और अनन्त बार आचार्य-पद प्राप्त हुआ है; केवल एक 'सत्' ही नहीं मिला, 'सत्' का ही श्रवण नहीं किया, 'सत्' की ही श्रद्धा नहीं की, और यदि यह मिल जाय, इसे श्रवणकर लिया जाय, और इसपर श्रद्धा की जाय तो ही मुक्त होने की झणकार आत्मा से निकलेगी।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास-रहित,
जिससे केवल पाते हैं मोक्ष–पंथ वह रीत। २

अनन्त बार जीव ने बाह्य दृष्टि से अर्थात् लौकिक दृष्टि से धर्म की आराधना की है, जिसके संस्कार और जिसकी छाप अभी तक भी आत्मा पर पड़ी हुई है। इसलिए ज्ञानी के अलौकिक अन्तर्दृष्टि के मार्ग की, वह आज भी लोकदृष्टि से आराधना करता है और वैसा करने से जीव उसके यथार्थ फल से वंचित ही रह जाता है।

इस जीव को यह देह ऐसा, भेद जो भास्यो नहीं,
पचखाण किया तब भी, मोक्षार्थ वह भाख्या नहीं। १

अनन्त बार अभ्यास में आई हुई नाशमान वस्तु के प्रति मोह, पौद्गलिक बड़ाई और उसके सुख की अभिलाषा से जीव जब तक मुक्त नहीं हो जाए, तब तक सत्पुरुष के महात्म्य और उसके उपदेश के परिणमन में छिपे हुए चमत्कार का अन्तरंग से अनुभव नहीं कर सकता।

---

२ आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वभास रहित,
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत।

—श्रीमद् राजचन्द्र

१ " आ जीव ने आ देह अेवो, भेद जो भास्यो नहीं,
पचखाण कीधा त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्या नहीं ॥ "

—श्रीमद् राजचन्द्र

" लोक दृष्टि का जब तक यह जीव वमन नहीं कर देता, और उसके प्रति उसकी अन्तर्वृत्ति नहीं छूट जाती, तब तक ज्ञानी की दृष्टि का वास्तविक माहात्म्य ध्यान में नहीं आ सकता; इसमें संदेह नहीं।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

संसार के प्रति प्रेम कम किये बिना, उसकी विस्मृति किये बिना, प्रभु की भक्ति में प्रेम, तल्लीनता और लय की लगन भी कहां से लग सकती है?

प्रीति अनंती पर थकी, जो तोड़े वह जोड़े वह"

—श्री देवचन्द्रजी

" चाहे जो क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्राध्ययन करके भी केवल एक ही कार्य सिद्ध करना है; वह यह कि संसार को भूल जाना और सत् के चरणों में रहना"

—श्रीमद् राजचन्द्र

अवगुण ढांकण काज, करूं जिनमत क्रिया
न तजुं अवगुण चाल, अनादि की जो प्रिया।
दृष्टि राग को पोष, वही समकित गिनूं,
स्याद्वाद की रीत, न देखूं निजपणुं।

—श्री देवचन्द्रजी

" यदि स्पष्ट प्रीतिपूर्वक संसार करने की इच्छा होती हो तो उस पुरुष ने ज्ञानी का वचन नहीं सुना; ज्ञानी पुरुष के दर्शन भी उसने नहीं किये—ऐसा तीर्थंकर ने कहा है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

जहां राम तहां नव काम भासे, जहां काम तहां नव राम,
तुलसी दोनों नव मिले, रवि रजनी एक ठाम।

—संत तुलसीदास

जीव ने सत्पुरुष के बोध के रहस्य को, शांत चित्त से, एकाग्रतापूर्वक, एकान्त में विचार करने का अभ्यास नहीं किया। केवल लोक समुदाय में ही रहकर धर्म होता है, ऐसी पूर्वकाल में अभ्यस्त वासना की प्रबलता के कारण, यह ध्यान जीव को सहज रूप से नहीं होता। अन्यथा सत्पुरुष के बोध को अन्तरंग विचार दशा के बल से, मोह,

माया और अज्ञान आदि को लेकर जीव को जो जन्म—मरण के फेर में परिभ्रमण करना पड़ता है, वह मोह, माया और अज्ञान किसका बना हुआ है ? कहाँ से उत्पन्न हुआ है ? उसका नाश कौन करेगा ओर यह नाश कब होगा ? इत्यादि प्रश्न जीव को आत्ममंथन के द्वारा समझ में आते हैं कि उसने इस भ्राँतिजाल को स्वयं उत्पन्न किया है, और स्वयं ही सत् को समझने के बाद उसे नष्ट कर सकेगा !

अन्तर्दृष्टिवाले जीव को अन्तर्संशोधन में 'मैं' का सत्यस्वरूप (स्व तथा पर), जड़ और चेतन का भेद—उसका गुणधर्म—दृष्टिगोचर होता है, और उस भेदज्ञान के बल से जीव मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होता है।

श्री जिन वीतराग देव का मूल मार्ग बाह्याभ्यन्तर त्याग, वैराग्य और संयम द्वारा निर्मित है, अंतर्दृष्टिवाले जीव का तप, त्याग, वैराग्य, और संयम अंतर्दृष्टि का ही बना होता है।

"इच्छानिरोधः तपः" —श्री उमास्वामी आचार्य

अर्थात् इच्छा को रोकना ही तप है।

"आत्म परिणाम से जितना अन्य पदार्थ का तादात्म्य अध्यास दूर होता है, उसे श्री जिन ने त्याग कहा है।"

"गृह, कुटुंब आदि भावों के संबंध में अनासक्त बुद्धि होना ही वैराग्य है।"

"हे आर्य, द्रव्यानुयोग का फल समस्त भावों से विराम पाना ही संयम है। उस इस पुरुष के वचन को अपने अन्तःकरण से तू कभी भी शिथिल नहीं करेगा। अधिक क्या ? यही समाधि का रहस्य है। समस्त दुखों से मुक्त होने का यही अनन्य उपाय है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

यदि जीव को सत्पुरुष के बोध के अन्तर्संशोधन में, विचार दशा के बल से, देह की—संसार की—असारता समझ में आ जाये; उसके जन्म जरा—मरणादि दुःख, मोह माया और ममत्व के प्रज्वलित भाव, तथा राग-द्वेष क्लेश आदि बंधन के स्थानक—अर्थात हर तरह से संसार केवल दुख-रूप और असातामय है, ऐसा यदि अन्तर में भासने लगे, और अपने आपका एकाकीपन—निराधारपन दिखाई देने लगे, संसारमें—जड़ में—सुख प्राप्त करने की भ्रांति दूर हो जाय, तभी पर में (अन्य में) अपनेपन की मान्यताएं कम हो सकती हैं।

"तेरे दोष तुझे बंधन है—यह सन्त की पहली शिक्षा है। तेरा दोष इतना ही है कि तू अन्य को अपना मानता है और अपने को भूल जाता है।"

"हे जीव, तू भ्रम में है, तुझे हित की बात कहता हूं। अंतरंग में सुख है, बाहर खोजने से वह नहीं मिलेगा। अन्तरंग का सुख अन्तरंगकी सम श्रेणी में है, उसमें स्थिति होने के लिए बाह्य पदार्थों का विस्मरण कर, आश्चर्य को भूल जा।"

—श्रीमद् राजचंद्र

जैसे—जैसे पर में (अन्य में) प्रीति घटती जाती है, अपना निराधारपना खटकता जाता है (भव का भय भासित होता जाता है), वैसे—वैसे प्रभु के प्रति, उसकी प्राप्ति के कारणों के प्रति, प्रीति दृढ होती जाती है, तथा संसार और उसके सेवन के प्रति नीरसता, विरक्त भाव, उदासीनता और वैराग्य की भावना अन्तरंग में प्रकट होती जाती है।

"वैराग्य ही अनंत सुख की ओर ले जाने वाला मार्गदर्शक है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

भेदज्ञान के बल से 'स्व' और 'पर' (जड—चेतन) का भेद बहुत गाढा होने के बाद, जड़ के प्रति भावों में जब रसहीनता आ जाती है, तभी सत् पुरुष के अन्तरंग का आशय समझ में आता है।

"मैं देहादि स्वरूप नहीं, और देह स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरा नहीं। मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ। इस प्रकार आत्मभावना करते हुए राग—द्वेष का क्षय होता है,....जैसे भी हो, राग—द्वेष—रहित होना ही मेरा धर्म है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

उपर्युक्त स्थिति होने के लिए अन्तरंग दशावाले जीव की समझ में आता है कि यह सारा खेल भाव और उपयोग का है। जो उपयोग मोह, राग—द्वेष और अज्ञान के भावों से अशुद्ध (मलिन) होता है, अत्यन्त चंचल हो उठता है, वही उपयोग समय—समय पर, पर में ही विश्रान्ति प्राप्त कर, अशुद्धता के कारण, कर्म—बंधन करता है। यह चाल अनादि से चली आती है, और समय—समय पर जीव मलिनतायुक्त उपयोग को लेकर अखंड भाव से कर्मबंध को बांधे ही चला जाता है। इस अशुद्धता—मलिनता को दूर करना अत्यन्त

आवश्यक है। अलौकिक दृष्टियुक्त दशावाले जीव को ही अन्तर्संशोधन में गहरे उतर कर यह रहस्य समझ में आता है।

" राग द्वेष अज्ञान यह, मुख्य कर्म की ग्रंथि,
होय निवृत्ति जिससे, वही मोक्ष का पंथ।" १

"....उपयोग को शुद्ध करने के लिए इस संसार के संकल्प–विकल्प को भूल जाना।"

"....लौकिक और अलौकिक दृष्टि में बड़ा अंतर है। लौकिक दृष्टि में व्यवहार की मुख्यता है और अलौकिक दृष्टि में परमार्थ की।"

"....हम और तुम ही यदि लौकिक दृष्टि से आचरण करने लगें तो फिर अलौकिक दृष्टि से कौन करेगा।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

उपयोग की मलिनता–अशुद्धता–दूर करने के इच्छुक जीव को समझ में आता है कि वैसा करने में उसमें बाधक संसार के इन बंधनों को दूर किये बिना छुटकारा नहीं।

"(१) लोक सम्बन्धी बंधन, (२) स्वजन कुटुंब आदि बंधन, (३) देहाभिमान रूप बंधन, (४) संकल्प–विकल्प रूप बंधन।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

तथा अंतरंग में....मन के मनोवेगी घोड़ों को संसार में दौड़ने से रोकना, वचन विलास से खेलते हुए संसार के खेलों को कम करना, तथा शरीर की कम–से–कम आवश्यकताओं का निर्वाह करना....

पुरुषार्थ किये बिना छुटकारा नहीं, ऐसा समझ में आता है।

बंधन सहित मुक्त भी कैसे हो सकता है!

जीव ने संसार में जो मोहजाल फैला रखा है, उसे समेटने की तीव्रता जागृत होती है; और जहां जहां से वह मोह के बंधन में बंधा हुआ है, वहां–वहां से वह पीछे

---

१ " राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्म नी ग्रन्थ,
थाय निवृत्ति जेह थी, तेज मोक्ष नो पन्थ ॥"

—श्रीमद् राजचन्द्र

लौटता है; और इसके लिए उसका (ज्ञानी की आज्ञानुसार) अन्तरंग पुरुषार्थ निरन्तर जागृत रहना चाहिए।

उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार,
अन्तर्मुख अवलोक तें, विलय होत नहीं देर । १

यदि इच्छा परमार्थ की, करो सत्य पुरुषार्थ
भवस्थिति आदि नाम के, छेदो नहीं आत्मार्थ । २

" ....जिस–जिस प्रकार से आत्मा आत्मभाव को प्राप्त करे, वे सब प्रकार धर्म के हैं– आत्मा जिस प्रकार से अन्यभाव को प्राप्त करे, वह प्रकार अन्य रूप है धर्म रूप नहीं।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

" ....आत्मार्थी जीव का पुरुषार्थ केवल संसार को सुन्दर दिखाने अथवा उससे प्रशंसा प्राप्त करने के लिए कभी हो ही नहीं सकता।"

" काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग।" ३

किन्तु केवल अनंत काल से अपनी आत्मा की अनन्त शक्तियां–जो आवरण को प्राप्त हो गयी हैं, अथवा जिनके कारण जीव अपने वीतराग स्वरूप में समाये हुए सुख, शान्ति और आनन्द को भोगने अथवा अनुभव करने से वंचित ही रहा है–उन आवरणों को दूर करने के लिए अन्तरंग का पुरुषार्थ निरन्तर जागृत ही रहता है। जब तक हृदय आर्द्र नहीं होता, अखियाँ (हृदय नयन), प्रभु के दर्शन की प्यासी नहीं बनती, उसी में छटपटाने नहीं लगती, तब तक अन्तरंग का अंधकार कैसे दूर हो !

---

१ उपजे मोह विकल्प थी समस्त आ संसार;
अन्तर्मुख अवलोकता विलय थता नहिवार ॥

२ जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ,
भवस्थिति आदि नाम लइ छेदो नहीं आत्मार्थ।

३ काम एक आत्मार्थनुं बीजो नहिं मनरोग।

—श्रीमद् राजचन्द्र

आश्चर्य ! जीव अपनी ही आत्मिक सम्पत्ति का स्वयं ही उपभोग नहीं कर सकता।

दीर्घकाल के सतत अन्तरंग जागृतियुक्त पुरुषार्थ से

वह क्रमानुसार कभी सत्पुरुष की

कृपा से, दीनबंधु की कृपादृष्टि से, और सत् पुण्योदय

से, उपयोग की अशुद्धता—मलिनता—दूर कर, शुद्ध होता है,

और तब उसे अपनी आत्मा के

निज स्वरूप का भान होता है (निर्मल स्वानुभव प्रकाश—सम्यक्दर्शन)।

"चेतन यदि निज भान में कर्ता आप स्वभाव,
वर्ते नहीं निज भान में, कर्ता कर्मप्रभाव।" १

"समस्त पर द्रव्यों में एक क्षण के लिए भी उपयोग न लगे, ऐसी दशा का जीव यदि सेवन करे तो केवलज्ञान उत्पन्न हो जाय।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

आत्मा को आत्मा के (अपने को अपना) स्वरूप का भान हो तो उसकी दृष्टि में संसार कैसा दिखाई दे ?

नींद में सोते हुए मनुष्य को जैसे स्वप्न आता है, और उस स्वप्न को वह सच्चा मानता है—स्वप्न में उपयोग किये हुए समस्त भोगों—सुख—दुख इत्यादि को—वह सत्य समझता है, और जब वह जाग जाता है तब क्या होता है ? उस समय वह स्वप्न मिथ्या भासित होता है—स्वप्न में उपभोग किये हुए समस्त भोग—सुख—दुख—मिथ्या भासित होते हैं। इसी प्रकार मोह निद्रा से जागृत हुए ज्ञानी को (आत्मानुभवी को) यह संसार स्वप्न के समान असत्य, मिथ्या और नाशवान प्रतीत होता है।

"सकल जगत् उच्छिष्टवत् अथवा स्वप्न समान
वह कहिए ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान।" २

---

१ चेतन जो निजभानमां, कर्ता आप स्वभाव,
वर्ते नहि निजभानमां, कर्ता कर्म-प्रभाव।

२ सकळ जगत ते एंठवत, अथवा स्वप्न समान,
ते कहीए ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान।

—श्रीमद् राजचन्द्र

"जाग देखूं तो जगत दीसे नहीं, नींद में अटपटा भोग भासे"

—नरसिंह मेहता

"स्वप्न सकल संसार है, स्वप्ना तीनों लोक,
सुंदर जाग्यो स्वप्न तें, तब सब जान्यो फोक।"

—श्री सुंदरदास

"श्री तीर्थंकर आदि ने पुनः पुनः जीव को उपदेश दिया है, लेकिन फिर भी जीव दिशामूढ ही रहना चाहता है—इसका कोई उपाय नहीं। फिर–फिर से ठोक–बजाकर कहा गया है कि यह जीव यदि इसी बात को समझ ले तो सहज मोक्ष हो जाय, नहीं तो अनन्त उपायों से भी मोक्ष नहीं। और यह समझना भी कुछ कठिन नहीं, क्योंकि जीव का जो सहज स्वरूप है, केवल उसे ही समझना है। वह कोई किसी दूसरे के स्वरूप को समझने की बात नहीं कि कभी कोई उसे छिपा ले अथवा न बताये, और इससे वह समझ में न आये। अपने से अपने आपका गुप्त रहना कैसे संभव है! लेकिन स्वप्न दशा में जैसे असम्भाव्य अपनी मृत्यु को भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञान दशा रूप स्वप्नरूप योग से यह जीव पर द्रव्य के साथ अपनापन मान रहा है। और यह मान्यता ही संसार है, यही अज्ञान है, नरक आदि गति का हेतु भी यही है। यही जन्म है, यही मरण है, यही देह है, देह का विकार है, यही पिता है, यही शत्रु है और यही मित्र आदि भाव कल्पना का हेतु है, और उससे निवृत्ति हो जाना ही सहज मोक्ष है। इसी निवृत्ति के लिए सत्संग और सत्पुरुष आदि साधन बताए गये हैं, और यदि इन साधनों का जीव, अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना, आचरण करे तो ही वह सिद्ध है। अधिक क्या कहें। यदि इतनी ही संक्षिप्त बात जीव में परिणमन को प्राप्त कर सके तो समस्त व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति और शास्त्र ज्ञान आदि से छुटकारा हो जाये, इसमें कोई भी संशय नहीं। यही प्रार्थना है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र (पत्र नं. ५३७)

उस आत्मानुभवी ज्ञानी का संसार के प्रति कैसा भाव होता है?

"....जो कांचन को कीचड़ जानता है, राज–सिंहासन को नीचा स्थान समझता है, किसी से मित्रता करने को मरण मानता है, बड़प्पन को जमीन लीपने का गोबर

समझता है, कीमिया वगैरह जोग को जहर समझता है, सिद्धि वगैरह ऐश्वर्य को असाता मानता है, संसार में प्रतिष्ठा पाने आदि की हविस को अनर्थ समझता है, पौद्‌गलिक छवि औदारिक आदि शरीर को राख समझता है, जगत्‌ के भोग-विलास को जंजाल समझता है, गृहवास को भाला समझता है, कुटुम्ब के कार्य को काल समझता है, लोक-लाज बढ़ाने की इच्छा को मुँह की लार समझता है, कीर्ति की इच्छा को नाक का मैल समझता है, और पुण्य के उदय को विष्टा मानता है-ऐसी जिसकी रीत हो, बनारसीदास उसकी बन्दना करते हैं।"

—श्रीमद्‌ राजचन्द्र (पत्र नं. ७८१)

यह है आत्मानुभवी ज्ञानियों के अन्तरंग का रहस्य!

"....लोकसंज्ञा जिसके जीवन का ध्रुव काँटा है, वह जीवन चाहे जैसी श्रीमन्ताई, सत्ता, अथवा कुटुम्ब-परिवार वाला क्यों न हो, तो भी वह दुख का ही कारण है। आत्म-शांति जिसके जीवन का ध्रुव काँटा है, वह जीवन चाहे एकाकी, निर्धन, और निर्वस्त्र ही क्यों न हो, परम समाधि का स्थान है।"

"धर्म में लौकिक बड़प्पन, मान और महत्व की इच्छा रखना, धर्मद्रोह रूप है।"

"आत्मपरिणाम की स्वस्थता को श्री तीर्थंकर ने 'समाधि' कहा है।"

"आत्मपरिणाम की अस्वस्थता को श्री तीर्थंकर ने 'असमाधि' कहा है।"

"आत्मपरिणाम की सहज स्वरूप परिणति होने को श्री तीर्थंकर ने 'धर्म' कहा है।"

"आत्मपरिणाम की किसी भी चंचल परिणति को श्री तीर्थंकर ने 'कर्म' कहा है।"

—श्रीमद्‌ राजचन्द्र

प्रकाशक

अध्यात्म युग प्रवर्तक
श्रीमद् राजचन्द्र
श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

अध्यात्म युग-प्रवर्तक

ॐ

तत् सत्

सत्य, शाश्वत सनातन और अबाधित है। स्थान और समय में परिवर्तन हो जाने पर भी इसमें परिवर्तन नहीं होता। अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक जो अपने उसी रूप में रहे, वह सत्य है-आत्मा है। ऐसे परम सत्य को पाकर, इसके ज्ञान की ज्योति को निरन्तर अखंड प्रज्वलित रखते हुए, अनेक महान् पुरुषों ने संसार का कल्याण करने के हेतु, अपना योगदान दिया है। प्रत्येक महापुरुष अथवा सन्त-महात्मा ने स्वयं अनुभव किये हुए सत्य को ही प्रकाशित किया है, उसी का उपदेश दिया है। तथा काल के प्रवाह में अनेक वर्ष बीत जाने पर भी वह शाश्वत सनातन परम सत्य आज भी अबाधित है। उसे समझनेके लिए और उसकी परीक्षा करने के लिए हृदय में आध्यात्मिक चक्षु, तथा मुमुक्षुता की आवश्यकता है। "सब प्रकार की मोहासक्ति से विरक्त हो केवल मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करने को मुमुक्षुता, तथा अनन्य प्रेमभाव से मोक्ष मार्ग में प्रत्येक क्षण प्रवृत्त रहने को तीव्र मुमुक्षुता कहते हैं"—*श्रीमद् राजचन्द्र*।

'बहुरत्ना वसुंधरा' इस उक्ति को मानो भारत भूमि संपूर्णतया साकार कर रही है, इसीलिए असंख्य महापुरुषों, साधु-संतों और महात्माओं ने भारतवर्ष की इस भूमि पर जन्म लिया है। और उसमें भी सौराष्ट्र की पुण्यभूमि के विशाल उदर

श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

में से कितने ही सन्त, युग प्रवर्तक और नरपुंगव इस संसार को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने अपने जीवन में अनेकों का कल्याण किया तथा अपने अनुयायियों को जीवन के उपयोगी सन्देश सुनाया।

कोई भी धर्म अथवा सम्प्रदाय जब-जब शुरू हुआ है, तब-तब उस समय की परिस्थिति के अनुसार जो-जो गंभीर प्रश्न समाज के सामने आते हैं, उन सब का हल इसमें रहता है। इतना ही नहीं, किन्तु आध्यात्मिक जीवन के मार्ग की समझ भी इससे प्राप्त होती है। परन्तु समय के प्रवाह के साथ उसका प्ररूपण स्थूल बन जाता है, तथा उसमें मतभेद, वाद-विवाद अथवा वितण्डा का प्रवेश होने से उसका ह्रास हो जाता है। इस बीच में ह्रास के कारणभूत अज्ञान के आवरण को दूर हटाकर फिर से सत्य की ज्योति को फैलानेवाला कोई नरपुंगव यदि इस संसार को मिल सके तो उसका पुनरुद्धार हो सकता है और उसका पल्लवित होना संभव है।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इसी प्रकार सद्धर्म की हानि प्रारंभ हुई। सब ने अपने-अपने विभिन्न कथनों को आधार मानकर, धर्म की आराधना की जिससे विभिन्न मत, गच्छ और सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। परिणाम यह हुआ कि वीतराग के पवित्र और प्रभावशाली शासन पर अज्ञान-रूपी अंधकार का आवरण छा गया। तथा मानव-मात्र के लिए-जीव-मात्र के लिए-कल्याणकारी और हितप्रद तथा अनेकांत और स्याद्वाद शैली से तर्क संगत वीतराग दर्शन अत्यन्त गौण बनकर रह गया।

श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

परन्तु भारतवर्ष में जब-जब धर्म गौण हुआ है और अधर्म में वृद्धि हुई है, तब-तब परमात्मा की कृपा के प्रतीक स्वरूप, इस भूमि के पामर जीवों के उद्धार और उनके अज्ञान-अंधकार में से, सद्धर्म की ज्योति के प्रकाश की ओर दौड़ जाने के लिए, किसी-न-किसी नरपुंगव का प्रादुर्भाव होता आया है। इतिहास इसका साक्षी है। इस प्रकार वीतराग दर्शन के गौण भाव को प्राप्त हो जाने पर, भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट मुक्ति-मार्ग का दिव्य सन्देश सुनाने के लिए, सौभाग्यशाली सौराष्ट्र की भूमि की गोद में, क्रीड़ा करते हुए बालक की भांति सुंदर, ववाणिया बन्दरगाह में, देवबाई माता की कोख में, पूर्वजन्म के संयोग से, योगी के समान एक तेजस्वी पुत्र का जन्म हुआ। विक्रम संवत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णमासी के दिन, पूर्णचन्द्र के समान प्रभावशाली इस नरपुंगव का आविर्भाव हुआ। जिन शासन का ज्योतिर्धर होना जिसके भाग्य में लिखा था, ऐसे ज्ञान-रूपी सूर्य के समान तेजस्वी इस बालक का नाम 'रायचन्द्र' रखा गया। 'आह ! कैसी धन्य घड़ी और कैसा धन्य दिवस'-ऐसा समझने के लिये प्रेरणादायक उनका जीवन था। आज हम प्रेम, भक्ति और आदर की भावनापूर्वक जिन्हें अपने हृदय-कमल में उच्च आसन पर बिठाते हैं, ऐसे श्रीमद् राजचन्द्र ने इस वणिक् कुल में जन्म लिया उनके पिताजी का नाम था रवजीभाई।

'पुत्र के लक्षण पालने में दिखाई पड़ जाते हैं', यह कहावत श्रीमद् के बाल्यकाल के प्रसंगों पर दृष्टिपात करने से सत्य सिद्ध हो जाती है। बचपन से ही भविष्य के इस महान् कर्मयोगी महात्मा का व्यक्तित्व बड़ा अद्भुत था। बहुत छोटी उम्र से ही वे

श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

अत्यन्त बुद्धिशाली और वाक्-कुशल थे। किसी विषय के ग्रहण करने की उनकी असाधारण शक्ति, तेजस्वी बुद्धि की प्रतिभा, तथा अद्भुत स्मरण-शक्ति के कारण, ऐसा लगता था मानो साक्षात् सरस्वती-देवी ने ही उनका वरण कर लिया है। उनकी आश्चर्यकारी शक्तियों का प्रभाव पांच वर्ष की सुकुमार अवस्था से ही ज्ञात होने लगा था। पाठशाला की सारी शिक्षा, केवल दो वर्ष में ही उन्होंने समाप्त कर ली थी। ववाणिया के गृहस्थ अमीचंद की मृत्यु और उनका अग्नि संस्कार देखकर, केवल सात वर्ष की अवस्था में होनेवाले उनके हृदय-मंथन में से नवनीत-रूपी जातिस्मरण ज्ञान का आविर्भाव हुआ। तथा अनेक पूर्वजन्मों के संस्कारों की सहायता से, बहुत छोटी-सी अवस्था में ज्ञान हो जाने पर, उनकी प्रज्ञा जाग उठी। आठ वर्ष की सुकोमल अवस्था में रामायण और महाभारत जैसे महान् ग्रन्थों का अवलोकन कर उन्हें काव्य रूप में गूंथने की असाधारण प्रतिभा भी उनमें थी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में तो किसी प्रौढ़ परिपक्व प्रज्ञाशाली लेखक की भाँति वे चिन्तन और मनन की परिपक्वता के द्योतक लेख लिखा करते थे। ये लेख 'बुद्धि प्रकाश' जैसे शिष्ट और श्रेष्ठ सामायिक पत्रों में प्रकाशित होते। इस प्रकार कुमार अवस्था से ही कागज-कलम के साथ मित्रता कर वे अपने ज्ञान और बुद्धि का प्रकाश फैलाने लगे और 'कवि' के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

यदि संस्कार की दृष्टि से विचार करें तो हिन्दू धर्म के आधारस्तम्भ जैन और वैष्णव धर्म के संस्कार श्रीमद् में बाल्यावस्था से ही मौजूद थे। जैनधर्म की अनुयायी माता और

वैष्णव-धर्म के अनुयायी पिता के समस्त गुणों का समन्वय इस तेजस्वी पुत्र में हुआ था। बाल्यावस्था में भजन और कीर्तन के प्रति अनुराग होने के कारण उन्होंने कंठी भी बंधवाई थी। परन्तु प्रारंभिक अवस्था होने के कारण ये बातें कब तक टिकी रह सकती थीं? बारह वर्ष की अवस्था में जैनधर्मानुयायी सज्जनों के परिचय से उन्होंने जैनशास्त्रों तथा प्रतिक्रमणसूत्र का स्वाध्याय किया। तथा फौरन ही, जैसे चातक को मेघ के प्रति और चकोर को चन्द्रमा के प्रति आकर्षण होता है, वैसे ही ऊर्ध्वगामी आत्मा से सम्पन्न श्रीमद् को क्षमा-भावना और अहिंसा की भित्ति पर आधारित जैनधर्म के प्रति आकर्षण हुआ। चौदह वर्ष की अवस्था में तो संस्कृत और प्राकृत के गूढ़ और गंभीर ग्रन्थों के तत्त्व-चिन्तन को आत्मसात् करके उन्हें हज़म भी कर लिया।

श्रीमद् की प्रतिभा का केवल वाचन-अध्ययन तक ही सीमित न रहना स्वाभाविक था। इसके उपरान्त चिन्तन-मनन करके, उसमें से जो नवनीत-रूपी सार निकलता, उसका 'जनहिताय' 'जनसुखाय' के लिए वे उपयोग करते। सोलह वर्ष की अवस्था में, केवल तीन दिन के अन्दर, उन्होंने तत्त्वज्ञान के दृष्टान्तों से परिपूर्ण 'मोक्षमाला' नाम के अद्भुत ग्रन्थ की रचना की। इसके ज्ञान-रूपी नवनीत से आनन्दित होकर विद्वान् लोग भी इसे अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते थे। श्रीमद् ने उसमें लिखा है—

"मुक्ति अर्थात् संसार के दुखों से मुक्त होना। अन्त में ज्ञान, दर्शन आदि अनुपम वस्तुओं को प्राप्त करना-जिसमें परम सुख और परमानंद का अखंड निवास है; जन्म-मरण-की विडम्बना

का अभाव है; शोक और दुख का नाश है...और इसी कारण वीतराग के वचनों में अनुराग करना उचित है। निदान इससे विषय-रूपी विष का जन्म नहीं होता। परिणाम में यही मुक्ति का कारण है। इस वीतराग सर्वज्ञ के वचन को विवेक बुद्धि से श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके, हे मानव! तू अपनी आत्मा को उज्ज्वल कर।"

सचमुच मुक्ति का कितना मार्मिक अनुपम दर्शन है!

प्रेम, वात्सल्य, तादात्म्य, समभाव इत्यादि गुण श्रीमद् के अन्दर, स्वाभाविक रूप में, बाल्यावस्था से ही मौजूद थे। सब को प्रिय लगने वाले वे मृदु वचन बोलते थे। उनकी वाणी में, दूसरों के हृदय को डोलायमान करने वाला और वशीकरण माधुर्य विद्यमान था। उनके प्रतिभाशाली मुख पर आन्तरिक आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब उनके व्यक्तित्व को अपूर्व तेजस्वी बनाता था।

एक के बाद एक वर्ष बीतते जा रहे थे। श्रीमद् की शक्तियों का आध्यात्मिक विकास होता जा रहा था। उनका ज्ञान और बुद्धि का प्रकाश विस्तृत होता जाता था। इस समय उन्नीस वर्ष की अवस्था में उन्होने शतावधान के अद्‌भुत प्रयोग किये। इससे जन-समुदाय को अलौकिक रत्न के प्रकाश की झाँकी मिली। बम्बई की जनता इन प्रयोगों को देखकर आश्चर्य से मुग्ध हो गयी और उसने श्रीमद् राजचन्द्र को 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधि प्रदान की।

यह सब होने पर भी कीर्ति अथवा लक्ष्मी की उपासना राजचन्द्र का लक्ष्य नहीं था। इस समय की कवि रायचन्द्र की भावना को यदि गाँधीजी के शब्दों में कहा जाय तो वह बिल्कुल ही भिन्न थी। जीवन-मुक्त दशा प्राप्त करने की ही उनकी तीव्र

इच्छा थी। उनके पास चलकर आई हुई कीर्ति, मान, महत्ता, ख्याति, आदर अथवा पूजा-प्रतिष्ठा के प्रलोभन उन्हें वश में न कर सके। तथा लौकिक सिद्धि प्रदान करनेवाले जन-सामान्य का सम्पर्क कम करके उन्होंने अलौकिक एकान्त आत्महित सिद्ध करने की प्रवृत्ति में आचरण करना ही इष्ट समझा।

परन्तु 'हरि का मार्ग तो शूरों का मार्ग है' इस उक्ति के अनुसार, उनकी अध्यात्म प्रवृत्ति भी सरल मार्ग से ही आगे बढ़े तो फिर उनका इसमें कौनसा बड़प्पन ?

श्रीमद् ने जनसम्पर्क से दूर हटकर आत्महित में लीन रहने को ही इष्ट समझा। उन्नीस वर्ष की अवस्था में उदय कर्म के अनुसार, डाक्टर प्राणजीवनदास के भाई पोपटलाल की पुत्री झबकबाई के साथ उनका विवाह हुआ। उदय कर्म तो तीर्थंकरों तक को भोगना पड़ता है। श्रीमद् के अन्तःकरण में प्रबल वैराग्य दशा थी और व्यावहारिक जीवन में वे गृहस्थाश्रम में रह रहे थे-ऐसी अवस्था में उनकी अब परीक्षा शुरू हो गयी। परन्तु जैसे सोने को अग्नि में तपाने से उसमें शुद्धता का अंश अधिक आ जाता है, उसी प्रकार श्रीमद् की वैराग्य अवस्था गृहस्थाश्रम में रहकर भी बढ़ती ही गयी।

आत्मजागृति उनकी अपूर्व थी। कोई भी बाह्य कारण उनकी आन्तरिक शक्ति को चलायमान करने के लिए समर्थ नहीं था। उनका मन तो इसी में रमा था।

> "सकल जगत् उच्छिष्टवत् अथवा स्वप्न समान।
> वह कहिये ज्ञानी दशा, बाकी वाचा-ज्ञान॥" १

---

१ सकळ जगत् ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान।
ते कहीए ज्ञानी दशा, बाकी वाचा-ज्ञान —श्रीमद् राजचन्द्र

इस आत्मदशा की, मुमुक्षुता के अन्तर्चक्षु के सिवाय अन्य किसी प्रकार से परीक्षा करना मुश्किल था। फिर भी मानो अपूर्व कर्म-योग के दृष्टान्त को पूर्ण करना हो, इस प्रकार संसार के जंजालों का त्याग कर, मनुष्यों की बस्ती से दूर, उन के सम्पर्क से हटकर, हिमालय के किसी शिखर पर, अथवा किसी गुफा में आत्मसाधन करने की शक्ति होने पर भी, उन्होंने केवल आत्महित को ही मुख्य मान, संसार में रहते हुए, संसारी जीवों के कल्याण के उज्ज्वल दैदीप्यमान मार्ग का उपदेश दिया। उनके अन्तर में तो—

" यद्यपि वैराग्य की अवस्था तो ऐसी हो गई है कि आत्मा में, प्रायः घर अथवा वन का भेद नहीं रहा। " —श्रीमद् राजचन्द्र

गृहस्थ-जीवन में और अपने व्यापार-व्यवसाय में सारे काम करते हुए भी, सारे कामों को सम्पूर्णतया सफलतापूर्वक करते हुए भी, इन सब का महत्व उनके जीवन में केवल आपद्धर्म के रूप में अथवा उदयकर्म-फल के रूप में ही स्वीकृत था; प्रमुख रूप से तो अध्यात्म-ज्योति का प्रकाश ही अन्तरंग में विद्यमान था।

बम्बई में रेवाशंकर जगजीवन की पेढी में साझी रहकर, उन्होंने हीरे-जवाहरात के व्यापार में एक सच्चे झवेरी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। चाहे जितना बड़ा नुकसान सहन करने का मौका आया हो तो भी उन्होंने सचाई या ईमानदारी नहीं छोड़ी, तथा व्यवहार में भी प्रतिकूल संयोग उपस्थित होने पर हमेशा धर्म को सुरक्षित रखा। इस प्रकार लौकिक जीवन में संलग्न रहने पर भी, इस सन्त के अन्तरंग में तो अध्यात्म की ज्योति ही प्रज्वलित रहती। उनके हृदय के अन्दर बाह्य लौकिक कर्तव्यों को

प्रवेश न मिलता। गृहस्थ जीवन में गृहस्थ रूप से और व्यवसाय में व्यापारी रूप से काम करते रहने पर भी उनकी आत्मा सतत जागृत रहती। उनका आत्म-चिन्तन सदा चालू ही रहता। फलस्वरूप उनकी नोट-बुक और डायरी में उनकी इसी अन्तरंग जागृति के दर्शन होते हैं।

बाह्य पुरुषार्थ में लगे रहने पर भी आत्मजागृति से प्रकट ज्ञान-ज्योति के प्रकाश से अन्तर्मुख हुई जीवनमुक्त दशा प्राप्त करने के लिए, उनका अन्तरंग पुरुषार्थ सतत चालू ही रहता। परिणामस्वरूप उनकी अन्तरदशा कुछ और ही हो गयी थी। श्रीमद् ने कहा है—

"—महात्मा पुरुषों ने उसे चाहे जिस—नाम से, चाहे जिस आकार से एक 'सत्' को ही प्रकाशित किया है; उसी का ज्ञान प्राप्त करना योग्य है; उसी की प्रतीति करना उचित है। वही अनुभव—स्वरूप है, और उसकी ही अत्यन्त प्रेमपूर्वक उपासना करना चाहिए। उस 'परम सत्' की ही हम अनन्य प्रेमपूर्वक अविच्छिन्न रूप से भक्ति करना चाहते हैं। उस 'परम सत्' को ही चाहे 'परम ज्ञान' कहो, चाहे 'परम प्रेम' कहो, चाहे उसे 'सत्-चित्-आनन्द स्वरूप' कहो, चाहे उसे 'आत्मा' कहो, चाहे उसे 'सर्वात्मा' कहो, चाहे उसे एक कहो, चाहे अनेक कहो, चाहे उसे एकरूप कहो, चाहे सर्व-रूप कहो, लेकिन वह सत् केवल सत् ही है, और वही इन विविध रूपों द्वारा कहे जाने योग्य है। जो कहा जाता है, वह सब यही है, और कुछ नहीं—ऐसा वह परम तत्व, पुरुषोत्तम हरि, सिद्ध, ईश्वर, निरंजन, अलख, परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, और भगवान् आदि अनंत नामों से कहा जाता है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

कितना स्पष्ट और निर्मल विवेचन है यह! सत् स्वरूप के सम्बन्ध में कितनी गहरी समझ है! चाहे उसे किसी नाम से या किसी रूप से कहो, मूल वस्तु तो वही-की-वही है।

घाट घटित फिर नामरूप जुदा
अंत में हेम का हेम ही है।—१

इसी प्रकार अपने साथी सायला-निवासी श्री सौभाग भाई के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने अपनी दशा का वर्णन किया है—

"—एक पुराण पुरुष और पुराण पुरुष की प्रेम-सम्पत्ति के बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हमें किसी भी पदार्थ में बिल्कुल भी रुचि नहीं रही। कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा हमें नहीं होती। व्यवहार किस प्रकार चल रहा है, इसका भी भान नहीं। संसार किस स्थिति में है, इसका भी स्मरण नहीं रहता। शत्रु और मित्र में कोई भेदभाव नहीं रहा। कौन शत्रु है और कौन मित्र, इसकी भी खबर नहीं रहती। हम देहधारी हैं या और कुछ, इसे याद करने पर भी मुश्किल से ही जान पाते हैं......हरि इच्छा का क्रम जैसे चलाता है, वैसे चलते चले आते हैं। हृदय प्रायः शून्य-जैसा हो गया है। पाँचों इंद्रियां शून्य भाव से ही प्रवृत्ति करती हैं—आदि पुरुष के प्रति अखंड प्रेम के सिवाय मोक्ष आदि अन्य पदार्थों की भी इच्छा का नाश हो गया है। इतना सब होने पर भी जैसी चाहिए, वैसी उदासीनता नहीं आ पाई है-ऐसा समझते हैं। अखंड प्रेम का नशा जैसा प्रवाहित होना चाहिए, वैसा प्रवाहित नहीं होता-इतनी अधिक उदासीनता आने पर भी व्यापार करते हैं, लेते-देते हैं; लिखते हैं, पढ़ते हैं,

---

१ घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवा
अंते तो हेमनु हेम होये। —नरसिंह मेहता

देखभाल करते हैं, खेद प्राप्त करते हैं, और हँसते भी हैं। जिसका कोई ठिकाना नहीं, ऐसी हमारी दशा हो गई है; और उसका कारण केवल यही है कि जब तक हरि की सुखद इच्छा को नहीं माना तब तक यह खेद मिटनेवाला नहीं......सिद्धान्त का ज्ञान हमारे हृदय में आवरित रूप से मौजूद है। यदि हरि की इच्छा प्रकट होने देने की होगी तो वह प्रकट होगा।...हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सब कुछ हरि ही हरि है, और फिर भी हम कारबार में लगे हुए हैं, यह इसी की इच्छा का कारण है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

कितना असीम हरिमय जीवन!

एक पुराण पुरुष और स्वरूप के प्रति अखंड प्रेम-भावना से परम भक्तिपूर्वक जिसे देह और देहसेवन की (सम्पूर्ण) विस्मृति हो गयी थी। जिसका हाड़-मांस और मज्जा हरि के नाद से व्याप्त था, जिसके रोम-रोम में से केवल हरिनाम का ही स्वर सुनाई देता था। इतना ही नहीं, इस कारण प्राप्त करने योग्य मोक्ष आदि के सम्बन्ध में इच्छा का अभाव भी उनकी निर्मोह वृत्ति का ही सूचक है। यह दशा उनके प्रत्यक्ष वीतराग स्वरूप की एक झांकी प्रस्तुत करती है।

"देह रहे जिनकी दशा रहती देहातीत
उस ज्ञानी के चरण में वंदन हो अगणीत" १

---

१ देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत''
ते ज्ञानी ना चरणमां हो वन्दन अगणीत''

—श्रीमद् राजचन्द्र

तेईस-चौबीस वर्ष की अवस्था में उनकी अध्यात्म-प्रतिभा का चन्द्र सम्पूर्ण कला को प्राप्त हो गया। अध्यात्म-वीर इस महात्मा के सतत जागृत आत्ममंथन के नवनीत रूप में अपूर्व सिद्धि प्राप्त हुई। फिर भी उनमें गर्व अथवा अहंमन्यता की छाया तक नहीं थी। उसके स्थान पर शुद्ध सम्यक् दर्शन और निर्मल स्वानुभव का प्रकाश होने पर अपूर्व अध्यात्म दशा प्रकट हुई; आत्मा शीतल और धन्य हो गई। अनादिकाल से खोये हुए इस रत्न-निजस्वरूप-की प्राप्ति होने पर सहजानन्द और सहजभाव के साथ अपनी इस अनुभवदशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"उन्नीस सौ सैंतालीस में समकित शुद्ध प्रकाश्यो रे,
श्रुत अनुभव बधती दशा निजस्वरूप अवभास्यो रे।" १

और, मानो उनके जीवन का कार्य भी निश्चित हो गया—

"यथाहेतु जो चित्त का सत्य धर्म का उद्धार रे,
होगा अवश्य इस देह से, ऐसा हुआ निर्धार रे।" २

केवलज्ञान का मार्ग मिल जाने पर इस स्वानुभवी ने प्रबल पुरुषार्थ को स्वीकार किया।

युग-युग में प्रकट होनेवाले तथा युगप्रवर्तक और युग-विधायक महान् व्यक्ति पूर्व संस्कार के जोर से स्वयं ही परस्पर आ मिलते हैं। इसी तरह धर्म की देदीप्यमान ज्योति के प्रकाश

---

१ "ओगणीससे ने सुडतालीसे समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे।"

२ "यथा हेतु जे चित्तनो, सत्य धर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निर्धार रे।"—श्रीमद् राजचन्द्र

को प्रज्वलित करनेवाले श्रीमद्जी और युग-कार्य की ज्योति जगाने वाले पूज्य गांधीजी-इन दोनों का निमित्त-वश मिलाप हुआ। दोनों का परिचय बढ़ा, और कुछ प्रश्नों की छानबीन करते हुए दोनों में पत्रव्यवहार भी हुआ। फलस्वरूप जीव-मुक्त दशा में रमने वाले इस ज्ञानी की प्रतिभा के प्रकाश का प्रभाव गांधीजी के जीवन के निर्माण में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गांधीजी श्रीमद् राजचन्द्र पर मुग्ध हो गये और उनके मन पर उनका गहरा असर हुआ। वे एक महान् पुरुष हैं तथा उनके लेख और उनका जीवन तत्वज्ञान के रस से भरपूर है-ऐसा उन्हें आभास हुआ। गांधीजी लिखते हैं—

'ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा' (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे) उनके इस काव्य की पंक्तियों में जो वैराग्य छलक रहा है, उसे मैंने उनके साथ अपने दो वर्षों के गाढ़ परिचय में, प्रत्येक क्षण में, उनमें देखा है। उनके लेखों की असाधारणता यह है कि उन्होंने जो स्वयं अनुभव किया है, वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरों को प्रभावित करने के लिए एक पंक्ति भी उन्होंने कभी लिखी हो, यह मैंने नहीं देखा। उनके लेखों में सत् नितर रहा है, इसका मुझे हमेशा आभास हुआ है। जिसे आत्मा के क्लेश को दूर करना है, जो अपने कर्तव्य को जानने के लिए उत्सुक है, उसे श्रीमद् के लेखों में बहुत कुछ मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। फिर चाहे वह हिन्दू हो या अन्य किसी धर्म का अनुयायी। खाते, पीते, सोते या कोई भी क्रिया करते समय, वैराग्य तो उनके मन में रहता ही। कभी किसी समय इस संसार के किसी भी वैभव को लेकर उनके मन में मोह हुआ हो, यह मैंने नहीं देखा।

यह वर्णन किसी संयमी के विषय में ही संभव है। बाह्य आडम्बर के कारण मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता यह आत्मा का प्रसाद है जो जन्म-जन्मान्तर के प्रयत्नों से प्राप्त हो सकता है-ऐसा अनुभव प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। राग-भाव को दूर करने का प्रयत्न करनेवाला व्यक्ति जानता है कि राग-रहित दशा को प्राप्त करना कितना कठिन है। यह रागरहित दशा कवि (श्रीमद् राजचन्द्र) में स्वाभाविक रूप से थी, ऐसी छाप मुझपर पड़ी थी।

"मोक्ष की प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जब तक संसार की एक भी वस्तु में मन गुंथा हुआ है, तब तक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है? अथवा यदि अच्छी लगती हो तो केवल कानों को ही। ऐसी केवल कर्ण-प्रिय क्रीड़ा में से मोक्ष का अनुसरण करनेवाली प्रवृत्ति के आने में तो बहुत समय बीत जाता है। आन्तरिक वैराग्य के बिना मोक्ष की लगन नहीं होती। ऐसे वैराग्य की लगन थी कवि (श्रीमद् राजचन्द्र) में।

"इस पुरुष ने धार्मिक विषयों में मेरा हृदय जीत लिया है। और अभी तक भी किसी व्यक्ति ने मेरे मन पर वैसा प्रभाव नहीं डाला। अन्यत्र मैंने कहा है कि मेरे आन्तरिक जीवन के निर्माण में कवि के साथ-साथ रस्किन और टालस्टाय का भी हाथ है, किन्तु कवि का प्रभाव मुझपर बहुत गहरा है। क्योंकि मैं कवि के प्रत्यक्ष गाढ़ परिचय और सम्पर्क में आया था। कितनी ही बातों में कवि के निर्णय ने-उनकी तुलना मेरी अन्तरात्मा का और मेरी नैतिक भावना का खूब ही समाधान किया था। कवि के सिद्धान्तों का मूल आधार निश्चय ही 'अहिंसा' था। कवि की अहिंसा के क्षेत्र में, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव-जन्तु से लगाकर सारी

मनुष्य जाति का समावेश होता था। इनके सिवाय, इनके जीवन से जो दो बड़ी बातें सीखने योग्य थीं, वे हैं सत्य और अहिंसा–स्वयं जो बात वे सत्य समझते और कहते, उस पर आचरण भी करते।"

—गांधीजी

गांधीजी के इस कथन से पता चलता है कि श्रीमद् की पुण्य पवित्र विशाल ज्ञान-राशि में से उद्‌भूत प्रभाव के कारण गांधीजी के जीवन में सत्य, दया, और अहिंसा के शाश्वत सिद्धान्तों की सरिता का त्रिवेणी संगम हुआ; तथा उसके परिणामस्वरूप जो गांधीजी के जीवन का निर्माण हुआ, उससे भारत के स्वातंत्र्य संग्राम को एक विलक्षण रूप प्राप्त हुआ। विदेशी शासन की पराधीनता की लोहशृंखला को अहिंसक संग्राम और सत्याग्रह के शस्त्र से तोड़कर, स्वातंत्र्य संग्राम के वे एक वीर सेनानी बने और भारत के मुक्तिदाता भाग्यशाली नर कहलाये। इस प्रकार हमें स्वतंत्र भारत के नवयुग की उषा के जो दर्शन हुए, उसमें पूज्य गांधीजी का कार्य प्रमुख है, और गांधीजी के जीवन-निर्माण में श्रीमद् के आध्यात्मिक ज्ञान का प्रभाव महान है। इस प्रकार हमारे नव-भारत के नव-सर्जन की नींव रखने में श्रीमद् के आध्यात्मिक ज्ञान का अपूर्व हाथ रहा है।

भारत के इतिहास में अहिंसक संग्राम की अपूर्व सफलता और स्वातंत्र्य-प्राप्ति के कारण पूज्य गांधीजी का नाम स्वर्ण अक्षरों में अंकित रहेगा। विश्व के इतिहास में भी वे अमर हो गये हैं। अहिंसा के दूत के रूप में संसार ने जिनका गुणगान किया है, वे गांधी बापू श्रीमद् के आजीवन ऋणी रहे हैं। युग-पुरुष श्रीमद्‌जी राष्ट्रपिता गांधीजी के गुरु के समान थे; यह जानकर उनके चरणों

में कोटि-कोटि वन्दन समर्पित करने की इच्छा होना स्वाभाविक है।

जगत् के समस्त जीवों के प्रति समभाव रखनेवाले श्रीमद् ने एक पत्र में लिखा है—

"जैसी दृष्टि इस आत्मा के प्रति है, वैसी दृष्टि जगत् की समस्त आत्माओं के प्रति है। जैसा स्नेह इस आत्मा के प्रति है, वैसा स्नेह समस्त आत्माओं के प्रति है; जैसी सहजानंद स्थिति इस आत्मा की चाहते हैं, वैसी ही अन्य समस्त आत्माओं की भी चाहते हैं। जो कुछ इस आत्मा के लिए चाहते हैं, वह सब समस्त आत्माओं के लिए चाहते हैं। जैसा भाव इस देह के प्रति रखते हैं, वैसा ही समस्त देहों के प्रति रखते हैं। जैसा आचरण समस्त देहों के प्रति रखते हैं, वैसा ही इस देह के प्रति रखते हैं। इस देह में विशेष बुद्धि और अन्य देहों में विषम बुद्धि प्रायः कभी भी नहीं हो सकती।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

इस प्रकार उनका अन्तरंग राग-द्वेष से दूर केवल समस्त प्रकार के समभाव से छलकता था। उन्हें सहज प्राप्त (ज्ञानियों की) समभावना के परिणाम स्वरूप, युग-पुरुष गांधीजी, अथवा शत्रु-मित्र, अथवा अपने प्रति समान भाव था।

संसार में सम्पत्ति बढ़ाने के लिए समय-समय पर लोग हमेशा पुरुषार्थ में संलग्न रहते हैं, इसी प्रकार श्रीमद् आध्यात्मिक सम्पत्ति में वृद्धि करने के लिए, वर्ष में कुछ महीने अवकाश पाकर, गुजरात आदि के जंगलों में और ईडर के पहाड़ों में ध्यान के लिए चले जाते। वहां अनेक आध्यात्मिक जिज्ञासु और

मुमुक्षुओं को उनके सत्संग का लाभ मिलता। उनकी अध्यात्म जागृति और आन्तरिक दशा ऐसी थी, जिसका बाहर से पता नहीं लग सकता था। जनक विदेही अथवा महाराजा भरत चक्रवर्ती जैसी उनकी दशा थी। जैसे राजा जनक राज्य-भार को वहन करते हुए भी विदेही थे, और जैसे महाराजा भरत चक्रवर्ती पद और छह खण्ड का साम्राज्य भोगने पर भी, अन्तरंग ज्ञान और वैराग्य के कारण अपनी आत्मदशा का सन्तुलन रखते थे, उसी प्रकार श्रीमद् राजचन्द्र संसार के भार को वहन कर, हीरे-जवाहरात के व्यापारी होते हुए भी, आत्मदशा का सन्तुलन रखते थे। संवत् १९५२ में, केवल अट्ठाइस वर्ष की अवस्था में, लिखे गये एक पत्र में उनकी एक सहज झाँकी दिखाई पड़ती है—

"जिसे मोक्ष को छोड़कर किसी भी वस्तु की इच्छा या अभिलाषा न थी, तथा अपने अखण्ड स्वरूप में रमण करते हुए मोक्ष की इच्छा भी जिसकी निवृत्त हो गयी है, उसे हे नाथ! तू सन्तुष्ट होकर भी और क्या देनेवाला था?"

"हे कृपालु! तेरे अभेद स्वरूप में ही मेरा निवास है। वहां फिर लेने-देने की झंझट से हम छूट गये हैं और यही हमारा परम आनन्द है।"

"कल्याण के मार्ग को और परमार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से न समझने वाले अज्ञानी जीव, अपनी बुद्धि की कल्पना से मोक्ष-मार्ग की कल्पना कर, अनेक प्रकार के उपायों का आचरण करते हुए भी, मोक्ष प्राप्त करने के बदले संसार में परिभ्रमण करते हैं, यह देख, अकारण ही हमारा करुणार्द्र हृदय रुदन करने लगता है।"

"वर्तमान में विद्यमान महावीर को भूलकर भूतकाल के भ्रमण में महावीर को खोजने के लिए भटकते हुए जीवों को भी महावीर का दर्शन कहाँ से हो सकता है?"

"हे दुषमकाल के अभागे प्राणियों भूतकाल की भ्रमणा छोड़ वर्तमान में विद्यमान महावीर की शरण में आओ, इसी में तुम्हारा कल्याण है।"

"संसार के ताप से त्रस्त और कर्म बंधन से मुक्त होने की इच्छा करनेवाले परमार्थ के प्रेमी जिज्ञासु जीवों की त्रिविध संताप-अग्नि को शांत करने के लिए हम अमृत के सागर हैं।"

"मुमुक्षु जीवों का कल्याण करने के लिए हम कल्पवृक्ष ही हैं। अधिक क्या कहें? इस विषम काल में परम शांति के धाम हम दूसरे राम अथवा श्री महावीर ही हैं। क्योंकि हम परमात्म-स्वरूप हो गये हैं।"

"इस आन्तरिक अनुभव के बारे में, परामात्मपने की मान्यता के अभिमान से नहीं लिखा। किन्तु कर्म के बंधन से दुखी संसार के जीवों के प्रति करुणा भाव होने से, उनके कल्याण करने तथा उनके उद्धार करने की अकारण करुणा ही हृदय की यह बात लिखने के लिए प्रेरित करती है।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

(वचनामृत पत्र नं. ६८०)

मैं ब्रह्म हूँ, मैं सत्स्वरूप हूँ या परमात्म-स्वरूप हूँ, ये उद्गार वास्तव में स्पष्ट तादात्म्य और अपूर्व अद्वैत सिद्धि के सूचक हैं। ये कुछ अहंभाव से प्रेरित नहीं, करुणा से प्रेरित हैं; और ये संसार के हित के लिए हैं, यह भी स्पष्ट है।

ज्ञानी की कितनी करुणामय भावना!

अट्ठाइस वर्ष की अवस्था में, सौराष्ट्र के सायला नामक गांव के रहनेवाले भक्त शिरोमणि श्री सौभाग्यभाई की प्रार्थना से प्रेरित हो, विक्रम संवत् १९५२ की शरद् पूर्णिमा के अगले दिन, नडियाद में, बाहर से घूमकर आने के बाद, सन्ध्या के समय, उन्होंने केवल डेढ़ घंटे के अन्दर, १४२ गाथाओं में समस्त शास्त्रों के तत्त्वज्ञान के निष्कर्षरूप 'श्री आत्मसिद्धि शास्त्र' नामक अमर काव्य की सरल भाषा में रचना की। बिन्दु में सिन्धु और गागर में सागर रूप इस काव्य में आत्मा के अस्तित्व से लेकर निर्वाण तक समस्त पदों की विचारधाराओं का स्याद्वाद शैली में प्ररूपण किया है। इसमें उनके आत्मज्ञान के मंथन में से उद्भूत प्रश्नों और उनके तार्किक समाधान को, स्वाभाविक रूप में, हृदयस्पर्शी शैली में लिखा गया है। इस प्रकार उनके आत्मानुभव के निष्कर्षरूप इस काव्य की रचना से, आत्मज्ञान के जिज्ञासुओं को शाश्वत मार्ग के दर्शनस्वरूप अपूर्व भेंट प्राप्त हुई। संसार के भव्य जीवों को इस भवसागर से पार उतरने के लिए ध्रुव तारे की भाँति दीपदंड प्राप्त हुआ। इस अमर काव्य के अमृत बिन्दुओं पर ध्यान दीजिए—

जाति वेष का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय
साधे वह मुक्ति लहे, इसमें भेद न कोय। १
गच्छ मत की जो कल्पना वह नहीं, सद्व्यवहार
भान नहीं निज रूप का यह निश्चय नहीं सार। २

---

१ जाति-वेष नो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय,
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय।
२ गच्छ मत नी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार।
भान नहि निजरूपनुं, ते निश्चय नहि सार। —श्रीमद् राजचन्द्र

राग, द्वेष, अज्ञान यह मुख्य कर्म की ग्रंथि।
होय निवृत्ति जिससे वही मोक्ष का पंथ। १

इस प्रकार व्यापार आदि की उपाधि के कारण, पूर्व प्रारब्धोदय के अंतराय रूप होने पर भी, इस प्राप्त हुई आत्मरमणता रूप स्वाभाविक समाधिमय आत्मदशा के आह्लाद में, अखंड निरन्तर रहने के लक्ष्य से (निर्विकल्प समाधि), इस अध्यात्म-वीर का अन्तरंग, पुरुषार्थ के प्रवाह में सतत प्रवाहित होने लगा।

वेदान्त की दृष्टि से 'कैवल्य दशा' और जैन की दृष्टि से 'केवल लगभग भूमिका' उन्होंने प्राप्त की।

श्रीमद् अपने सम्बन्ध में लिखे हुए एक नोट में कहते हैं—

"हे जिन वीतराग! तुम्हें अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामर के प्रति अनन्त-अनन्त उपकार किया है।"

"हे कुंदकुंद आदि आचार्यो! तुम्हारे वचन भी निज स्वरूप की खोज करने में इस पामर को परम उपकारक हुए हैं, इसलिए मैं तुम्हें अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।"

"हे श्री सोभाग! तेरे सत्समागम के अनुग्रह से आत्मदशा का स्मरण हुआ, इसके लिए मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।"

"अहो! सर्वोत्कृष्ट शान्त रसमय सन्मार्ग! अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शान्त रस-प्रधान मार्ग के मूल सर्वज्ञ देव!"

---

१ रागद्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ,
थाय निवृत्ति जेह थी ते ज मोक्ष नो पंथ।

—श्रीमद् राजचन्द्र

अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शान्त रस की सुप्रतीति करानेवाले परम कृपालु सद्गुरुदेव!

इस विश्व में सर्वकाल तुम जयवंत रहो, जयवंत रहो!

—श्रीमद् राजचन्द्र

इस संसार में कितने ही सन्त, महात्मा और तीर्थंकरों ने आत्मज्ञान को प्राप्त कर निर्वाण पद को पाया। किन्तु श्रीमद् ने वणिक् वेश में, गृहस्थी में रहते हुए, इस पद की प्राप्ति के लिए अद्भुत सतत अन्तर्-जागृति रखकर, जो भगीरथ प्रयत्न किया, उसकी कल्पना-मात्र भी हमारी शक्ति के बाहर है। आसपास लहर मारती हुई अपार जलराशि और नीचे जमी मलिन पंक के बीच में भी, जिस प्रकार कमल निर्मल और जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार इस संसार में जल-कमल की भाँति रहने के लिए इस सन्त को कितनी जागृति और कितना पुरुषार्थ करना पड़ा होगा! संग-प्रसंग और आधि-व्याधि से भरपूर इस संसार-रूपी काजल की कोठड़ी में रहकर भी, प्रबल वैराग्य से आत्मा की अखंड ज्योति को, स्फटिकमणि के समान शुद्ध रखा; और इस निर्मल ज्योति को काजल का एक अंश मात्र भी स्पर्श न कर सका, अथवा उसकी शुद्धता का अंश मात्र भी कम न हो सका। वरन् अग्नि में तपे हुए सोने की भाँति उनमें शुद्धता का अंश उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इसके पीछे कितना भगीरथ प्रयत्न होगा! कितना आत्म-मंथन होगा! कैसा अडिग मनोबल और संयम रहा होगा! कितने पूर्वजन्मों के संस्कार का प्रसाद होगा! यह विचार कर कल्पना भी स्तंभित हो जाती है, विचारों का प्रवाह रुक जाता है। श्रीमद् वणिक् वेश में, गृहस्थी में बाह्य जीवन

बिताते हुए, अंतरंग से, वीतराग निर्ग्रन्थ भाव से निर्लेप रहकर, सद्धर्म के उद्धारक बने, यही इनकी अपूर्व विशिष्टता है। यही तो पंचम-काल का आश्चर्य है।

महात्माओं की सत्प्राप्ति के लिए, अंतरंग में पराकाष्ठा को प्राप्त आकुलता, अधीरता और वेदना-इनका सामान्यतया दृष्टिगोचर होना असंभव है। इन्हें तो वही अनुभव कर सकता है जो 'राम क बाण' से घायल हुआ हो। श्रीमद् ने परमार्थ वृत्ति को मुख्य रूप से आजीवन सुरक्षित रखा। उसके साथ-साथ उनकी परोपकार वृत्ति भी उतनी ही प्रबल थी। संवत् १९५६ में परमार्थ मार्ग के प्रचार के लिए श्रीमद् ने 'परम श्रुत प्रभावक मंडल' संस्था की स्थापना की। इस संस्था की देखभाल महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में, स्वर्गीय रेवाशंकर के सुपुर्द की गयी थी। उनकी चिर स्मृति के रूप में यह संस्था आज भी बम्बई में, अगास आश्रम के संचालन द्वारा परमार्थ मार्ग के प्रकाशन का प्रचार-कार्य कर रही है।

जीवन के पिछले वर्षों में श्रीमद् की शारीरिक दशा अत्यन्त कमजोर हो गयी थी। इससे माटुंगा, शिव, नवसारी, तीथल, वढवाण आदि स्थानों में उन्हें रहना पड़ा। अन्त में वे राजकोट रहने लगे। डाक्टरों ने ज्यादा बातचीत करने की मनाई की थी। इसी प्रकार यदि पत्र लिखना हो तो वे केवल एक-दो पंक्तियों में ही लिख देते। संवत् १९५७ चैत्र सुदी २, शुक्रवार को लिखे हुए एक पत्र में वे लिखते हैं—

"ॐ अनन्त शान्तमूर्ति चन्द्रप्रभु स्वामी को नमोनमः। वेदनीय को तथारूप उदयमान रूप से वेदन करने में क्या हर्ष और क्या शोक ? ॐ शान्ति......"

उनकी सेवा में उनके भ्राता मनसुख भाई और रेवाशंकर भाई, डा. प्राणजीवनदास, धारशीभाई, नवलचन्दभाई आदि उपस्थित रहते थे। एक बार प्रसंगवश श्रीमद् ने बातचीत करते हुए सहज रूप से धारशीभाई से कहा-"हमारी मौजूदगी में चार पुरुषों ने आत्मज्ञान प्राप्त किया है। वे हैं श्री जूठाभाई, श्री सोभागभाई, श्री अंबालाल भाई और श्री लल्लुजीमुनि (प्रभुश्री)।

श्रीमद् राजचन्द्र जैसे उत्तम नरपुंगव की दीर्घायु काल को संभवतः अनुकूल नहीं हुई। क्योंकि यदि परमार्थ की अखंड वर्षाऋतु होती रहे, सद्धर्म का प्रवर्तन होता रहे तो फिर दुषम कलिकाल कैसे कहा जाये? केवल ३४ वर्ष की अल्प अवस्था में, संवत् १९५७, चैत्र वदी ५ मंगलवार के दिन, विरल विदेही, वीतराग विभूति संपन्न विश्व का यह ज्योतिर्धर, सम्पूर्ण शुद्धि में, आत्मस्वरूप में समाधिस्थ हो इस लीला को समेट, राजकोटमें अमरपद को प्राप्त हुआ।

पूर्णचन्द्र की भाँति अमृतसुधा की वर्षा करते हुए, इस ज्ञानचन्द्र का उदय शीतलता देनेवाली हेमन्त ऋतु में हुआ था, और सचमुच! यह कितना विचित्र संयोग था कि उसका अस्त भीषण ज्वाला और आग बरसाने वाले चैत्र महीने में हुआ!

इस ज्ञानावतार श्रीमद् राजचन्द्र के कृपा-प्रसाद को प्राप्त कर, उनके द्वारा प्रदर्शित सनातन वीतराग मोक्ष-मार्ग की उपासना करनेवाले, अनेक सत् साधकों में अत्यन्त सौभाग्यशाली श्रीमद् लघुराज स्वामी, श्री सोभागभाई, श्री जूठाभाई और श्री अंबालाल भाई-ये चारों महानुभाव, श्रीमद् से आत्मज्ञान-रूप

अमोल ज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त कर, धन्य हुए (इनका आध्यात्मिक संक्षिप्त जीवन अगले प्रकरणों में दिया गया है)।

श्रीमद् की नश्वर देह अब हमारे बीच नहीं है। परन्तु उनकी अनश्वर देह ज्वलन्त ज्ञान की ज्योति के रूप में, अनन्त काल तक हमारे मार्गदर्शन के लिए आज्वल्यमान हो रही है। विविध जिज्ञासुओं के प्रतिबोध के लिए, उनके द्वारा लिखित, अद्भुत ज्ञान के प्रकाशक अमूल्य ज्ञान-साहित्य 'श्रीमद् राजचन्द्र' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित है, वह आज भी अनेक जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिए, अनेक रूप से उपकारक है। अनेक शास्त्रों के पठन से भी जो लाभ मिलना मुश्किल है, वह इस एक ही महाशास्त्र के शान्तिपूर्वक पठन, मनन और स्वाध्याय द्वारा जिज्ञासु लोग सरलता से प्राप्त कर, अपने आपको धन्य मान रहे हैं। तथा परमार्थ-रूप-अमृत-पान के पिपासुओं के लिए, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास जैसी संस्था, तथा ववाणिया, वडवा, खंभात, नार, काविठा, बोरसद, उत्तरसंडा, ईडर, धामण, आहोर (मारवाड़), आदि स्थानों के मुमुक्षु श्रीमद् द्वारा प्रदर्शित परमार्थ के मार्ग में प्रगति करने के लिए, श्रीमद् को, निष्काम करुणा के अथाह आभार से नतमस्तक हो, निरन्तर भक्ति-भावपूर्वक श्रद्धांजलि समर्पित कर रहे हैं।

आधुनिक काल में, जीवन में, जीवन-व्यवहार के प्रत्येक कार्य में, भौतिक समृद्धि की बढ़ोतरी ही सर्वोच्च ध्येय हो गया है, और इसी की आज संसार में भगवान के रूप में पूजा होती है। सत्, सत्पुरुष, सत्संग, सद्बोध और सत् पुरुषार्थ के प्रति लोगों का दुर्लक्ष हो गया है। ऐसे इस कलिकाल में इस महापुरुष के दर्शन अत्यन्त दुर्लभ जान पड़ते हैं। और ये दर्शन हमें अनायास

ही मिल गये, इसलिए हम बहुत भाग्यशाली हैं। आज श्रीमद् का देहधारी रूप हमारे बीच नहीं, परन्तु उनकी अविनाशी उज्ज्वल आत्म-ज्योति अखंड-रूप से प्रकाशित होती हुई हमें प्रकाश पहुँचाती है। उनके आध्यात्मिक साहित्य के स्मरण रूप पुष्प कभी भी नहीं मुरझायेंगे।

इस दुषमकाल में सत् जिज्ञासुओं को परमार्थ की प्राप्ति में श्रीमद् राजचन्द्र का आध्यात्मिक जीवन सत् मार्गदर्शक, और प्रेरणा-रूप बनकर चिरस्मरणीय रहेगा।

पाठक! इस महापुरुष के जीवन-चरित्र का दिग्दर्शन कर, उसके वचनामृत, पत्र और काव्यरस का आस्वादन कर, उसके बताये हुए मार्ग से आत्मोन्नति साधकर, और जीवन को सार्थक बनाकर, नतमस्तक हो, भक्ति-भावपूर्वक हम श्रीमद् को श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

अगणित अगणित वंदन हो......

ॐ

तत् सत्

परिपूर्ण ज्ञान से, परिपूर्ण ध्यान से,
परिपूर्ण चारित्र, बोधित्व दान से,
विरागी महाशांत मूर्ति तुम्हारी
प्रार्थना राजप्रभु ले लो हमारी।

निष्काम करुणामूर्ति
श्रीमद् लघुराज स्वामि
(प्रभुश्री)
श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

निष्काम करुणामूर्ति
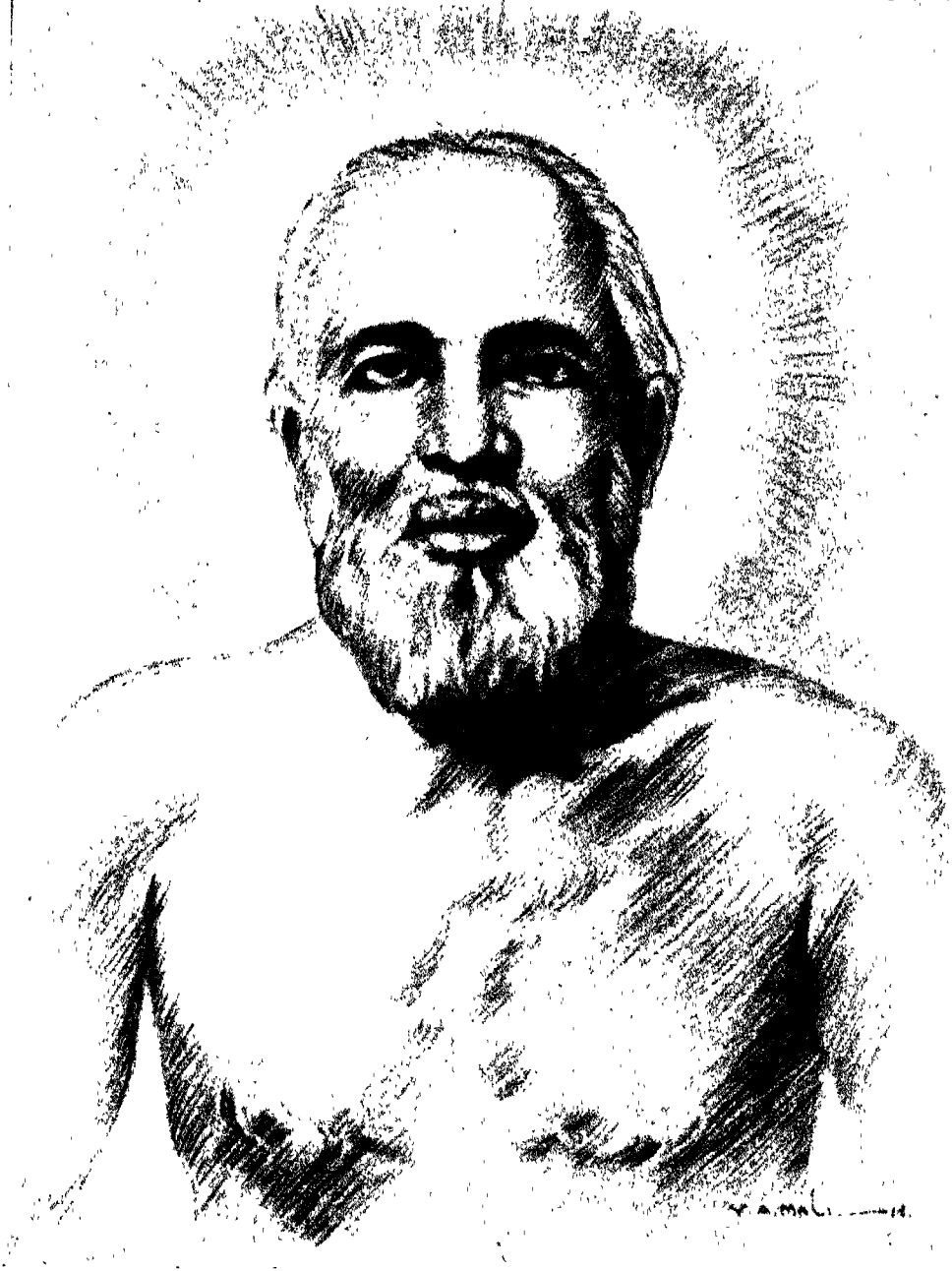
श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री)

पूर्व जन्म के संस्कार से, प्रथम दृष्टि से ही "हम अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहे हैं, इसलिए हमारी संभाल करो" (आत्मा की पहचान कराओ), इस प्रकार विनय भक्तिपूर्वक प्रार्थना करके, श्रीमद् राजचन्द्र को (उम्र, वर्ष २२) तीन बार साष्टांग दण्डवत् नमस्कार करनेवाले, स्थानकवासी सम्प्रदाय के, खंभात संघाड़े के अगुआ, मुनिश्री लघुराज स्वामी (उम्र, वर्ष ३६) थे। इस समय, काल के गर्भ में स्थित सत्‌बीज का एक ऐसा अंकुर फूटा कि जिसके फलस्वरूप आज श्रीसत्य सनातन वीतराग मार्ग की अत्यन्त सरल और सुगम रूप से आराधना कर, अनेक जीव आत्मकल्याण कर रहे हैं।

परम तत्वज्ञ अध्यात्म-मूर्ति श्रीमद् राजचन्द्र से आत्म प्रतीति प्राप्त कर-उसी में आचरण कर, परमात्म दर्शन को प्राप्त; श्रीमद् के हृदय में स्थित वीतराग मार्ग के अन्तरंग रहस्य को गुरुकृपा से (राजकृपा से), अलौकिक दृष्टि द्वारा उपलब्ध कर, मोक्षार्थी भव्य जीवों को अपनी सहज करुणा द्वारा सद्‌बोध वृष्टि से आत्महित के प्रति प्रेरित कर; दुर्लभ मनुष्य-भव की सफलता कराने में सर्वोत्कृष्ट उपकारी ऐसे श्रीमद् लघुराज स्वामी को (प्रभुश्री को) अगणित वंदन ! अगणित वंदन ! !

अनादिकाल से जीव परमार्थ मार्ग की अपनी कल्पना बुद्धि से आराधना कर रहा है। उसमें सत्प्रगट स्वरूप के प्रकाशक ज्ञानी का संयोग महान् भाग्योदय से प्राप्त होता है। हमें इस पंचम काल में ऐसा अप्राप्य योग मिला। परन्तु यदि श्रीमद् राजचन्द्र को वणिक्

देश में, वीतराग स्वरूप में, पहचानने का हमें अवसर मिला होता तो उसमें हमें पूर्णतया असफलता ही मिलती। कारण कि ज्ञानी को पहचानने के लिए अलौकिक आत्मदृष्टि-अन्तर्चक्षु-की अत्यन्त आवश्यकता है। इस विनाशी चरम चक्षु के द्वारा ज्ञान (ज्ञानी) अप्राप्य ही रहता है। ऐसे इस दुर्लभ योग को सुलभ बनाकर, श्रीमद् को वीतराग स्वरूप में, जगत् के पहचानने में महान् निमित्त-स्वरूप करुणामूर्ति श्री लघुराज स्वामी हैं। यदि ऐसा संयोग प्राप्त न होता तो किसी अज्ञानी बालक को दिये हुए अनमोल रत्न की भाँति ही हमारी दशा होती। परन्तु करुणामूर्ति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रखने वाले श्री लघुराज स्वामी ने अपनी सहज करुणा दृष्टि से, हमें इस अनमोल रत्न की (श्रीमद् राजचन्द्र की) अगाध-असीम-तेजस्विता का परिचय कराया। ज्ञानी को पहचानने में सहायक श्री लघुराज स्वामी मुमुक्षुओं के महान उपकारी हैं और उनकी बलिहारी है।

इस विरल विभूति से सम्पन्न श्री लघुराज स्वामी का जन्म भाल देश के वटामण गांव में, संवत् १९१०, आसो वदी १ के दिन, वैष्णव सम्प्रदायी भावसार सुखी कुटुम्ब में हुआ था। इनके पिता का नाम कृष्णदास गोपालजी और माता का कसली बा था। इनका नाम लल्लूभाई रखा गया। जब थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना आ गया तो उन्होंने पाठशाला छोड़ दी (युवावस्था में उनका दो बार विवाह हुआ)।

खंभात के स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओं का उस गांव में बार-बार आना-जाना लगा रहता था। इसलिए उनके सम्पर्क से उस कुटुम्ब में स्थानकवासी जैनधर्म के प्रति श्रद्धा हो गयी।

सत्ताइस वर्ष की अवस्था में उन्हें पीलिया हो गया। अनेक

उपचार करने पर भी रोग बढ़ता ही गया और उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। इस समय उनमें धार्मिक संस्कार जाग्रत हुए और उन्होंने संकल्प किया, "यदि रोग शान्त हो जाय तो मैं दीक्षा ले लूंगा।" रोग शान्त हो जाने पर उन्होंने दीक्षा के लिए तैयारी की, परन्तु उनकी माता ने सन्तान हो जाने के बाद ही दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी। कुछ समय बाद पुत्र का जन्म हुआ। और जब वह एक महीने का हो गया, तब उन्होंने अपने भतीजे देवकरणजी के साथ, संवत् १९४०, जेठ बदी ३, मंगलवार के दिन, बहुत धूमधाम के साथ, खंभात में मुनि श्री हरखचन्दजी से दीक्षा ग्रहण की। इस अवसर पर देवकरणजी को श्री लल्लूजी स्वामी का शिष्य घोषित किया गया।

दीक्षा लेने के पश्चात् उन्होंने उग्र तपश्चर्या की, तथा विवेकी और विनयी होने के कारण अपने गुरु तथा अन्य साधुओं के वे प्रिय हो गये। किन्तु जिस आत्मशांति को प्राप्त करने का उन्होंने विचार किया था, वह प्रबल पुरुषार्थ करने पर भी प्राप्त नहीं हुई।

एक बार लल्लूजी स्वामी के गुरु श्री हरखचन्दजी महाराज भगवतीसूत्र का व्याख्यान कर रहे थे। उस समय ग्रन्थ के किसी अध्याय में इस विषय की चर्चा आई कि भवस्थिति परिपक्व हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं होता। इस सम्बन्ध में श्री लल्लूजी स्वामी को शंका हुई कि भव स्थिति परिपक्व होने पर यदि मोक्ष होता हो, तो फिर साधुत्व और कायक्लेश आदि क्रियाएं करने की क्या आवश्यकता है? इस शंका के समाधान के लिए बहुत-से लोगों के साथ उन्होंने चर्चा की, लेकिन संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। इस बीच में एक मुमुक्षु भाई श्री अम्बालाल लालचन्द वकील ने श्री लल्लूजी स्वामी से कहा कि ऐसे-ऐसे प्रश्न तो क्या, अनेक जैन

आगम हस्तामलकवत् हैं एक ऐसे पुरुष है श्रीमद् राजचन्द्र,—जो हाल ही में खंभात आनेवाले हैं। यह सुनकर उनके मन में श्रीमद् के दर्शन करने की तीव्र भावना जाग उठी और उन्होंने श्री अम्बालाल भाई से अनुरोध किया कि वे श्रीमद् को उपाश्रय में ले आयें।

संवत् १९४६ के चातुर्मास में, श्रीमद् खंभात पधारे। उपाश्रय में श्री लल्लूजी स्वामी को उनके प्रथम दर्शन हुए। प्रथम दर्शन में ही गृहस्थ-वेश धारण करनेवाले श्रीमद् को (आत्मा की निर्मलता के कारण) परम योगी मानकर, मुनिवेशी लघुराज स्वामी ने तीन बार दण्डवत् नमस्कार कर, सम्यक्त्व प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की। श्रीमद् ने श्री लल्लूजी स्वामी के दायें पैर का अंगठा देखकर श्री अम्बालालभाई से कहा, "श्री लल्लूजी पूर्वजन्म के संस्कारी पुरुष हैं।"

श्रीमद् खंभात में लगभग एक सप्ताह रहे। वहां प्रतिदिन मुनिश्री अम्बालालभाई के घर जाकर, एकान्त में श्रीमद् राजचन्द्र के दर्शन करते, और उनका सद्बोध प्राप्त करते। फलस्वरूप उन्होंने श्रीमद् को अपने अन्तरंग में सद्गुरु के रूप में धारण किया और श्री अम्बालालभाई की मार्फत, श्रीमद् के साथ पत्र-व्यवहार कर सत्बोध प्राप्त किया, कारण कि मुनिवेश में श्रीमद् के साथ सम्पर्क करना बहुत मुश्किल था।

इस प्रकार, प्राप्त किये हुए सत्बोध का विचार जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके मन में श्रीमद् के दर्शन-समागम की आतुरता बढ़ती गई। इस समय दीक्षा-गुरु की आज्ञा प्राप्त कर, उन्होंने संवत् १९४९ का चौमासा श्री देवकरणजी के साथ, बम्बई में, चिंचपोकली के उपाश्रय में किया। बम्बई आने के बाद श्रीमद् के दर्शन-समागम के लिए जब वे उनकी पेढी (दुकान) पर गये तो

श्रीमद् ने प्रश्न किया, "इस अनार्य जैसे देश में तुमने चातुर्मास क्यों किया? मुनि को अनार्य जैसे देश में विचरण करने की आज्ञा थोड़ी ही दी गई है?" यह सुनकर मुनिश्री ने उत्तर दिया, "आपके दर्शन-समागम की भावना से ही यहां चातुर्मास किया है।"

मुनिश्री प्रतिदिन श्रीमद् के दर्शन-समागम के लिए उनकी पेढ़ी (दुकान) पर जाते और एकान्त में दर्शन-समागम का लाभ प्राप्त कर कृतार्थ होते। इस प्रकार, बम्बई का चातुर्मास पूरा कर, संवत् १९५० और १९५१ के चातुर्मास मुनिश्री ने सूरत में किये। सूरत में श्री लघुराज स्वामी को दस-ग्यारह महीने से बुखार आया करता था। किसी दवा से फायदा न होता। बीमारी बढ़ने लगी तो उन्होंने श्रीमद् को पत्र लिखकर प्रार्थना की, "हे नाथ, अब इस देह का कोई भरोसा नहीं, और यदि सम्यक्त्व धारण किये बिना प्राण छूट गये तो मेरा मनुष्य-भव ही व्यर्थ चला जायेगा। इसलिए कृपा करके सम्यक्त्व प्रदान करें।" पत्र के उत्तर में श्रीमद् ने अनन्त कृपापूर्वक छह पद का पत्र लिखा। साथ ही यह भी लिखा कि शरीर छूटने का भय करना योग्य नहीं। आत्मा की पहचान करने के लिए उन्होंने 'आत्मा है', 'आत्मा नित्य है', 'आत्मा कर्ता है', 'आत्मा भोक्ता है', 'मोक्ष है', और 'उस मोक्ष का उपाय है'-इस प्रकार आत्मज्ञान अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए छह पदों का अपूर्व वचनों द्वारा निरूपण किया।

इस पत्र के विषय में श्री लघुराज स्वामी ने कहा है, "यह पत्र हमारी अनेक विपरीत मान्यताओं को दूर करता है। न इसने हमें ढूंढिया रहने दिया, न तप्पा में रहने दिया, और न वेदान्त की ओर ही झुकने दिया; किसी भी मत-मतान्तर की ओर न ले जाकर केवल एक आत्मा पर अवस्थित रखा। यह एक चमत्कारपूर्ण पत्र है। यह

एक ऐसा आश्चर्यकारी पत्र है कि यदि जीव में योग्यता हो तो उस में सम्यक्त्व प्राप्ति का विचार उत्पन्न हो सकता है।"

संवत् १९५२ का चातुर्मास श्री लघुराज स्वामी ने खंभात में किया। इस बीच में मुनिश्री के दीक्षा-गुरु श्री हरखचंद महाराज काल-धर्म को प्राप्त हुए। श्रीमद् राजचन्द्र के समागम से श्री लल्लूजी की श्रद्धा पलट गयी। वे एक गृहस्थ को गुरु मानने लगे हैं, आदि बातें साधु और श्रावकों की मंडली में फैलने लगीं। इससे उनके प्रति जनसमुदाय का प्रेम कम हो गया। लेकिन इन सब बातों की परवाह किये बिना मुनिश्री गुरु-भक्ति में लीन रहते।

श्री लघुराज स्वामी के समागम के कारण, मुनि देवकरणजी के साथ अन्य पांच मुनियों के मन में भी श्रीमद् राजचन्द्र के प्रति प्रेम जागृत हुआ। और इस प्रकार श्री मोहनलालजी, श्री चतुरलालजी, श्री लक्ष्मीचंदजी, श्री बेलशीराव और श्री नरसिंहराव-ये सातों मुनि श्रीमद् के प्रति श्रद्धा-भक्ति तथा प्रेम रखने लगे और उनसे सद्धर्म की प्राप्ति होगी ऐसा भाव मन में लाने लगे।

संवत् १९५२ में श्रीमद् राळज से वडवा (खंभात के पास) पधारे। समस्त मुनि उनके दर्शन-समागम के लिए आये और श्रीमद् को नमस्कार करके बैठ गये। श्री लघुराज स्वामी को विरह वेदना असह्य हो रही थी और उसका कारण था उनका मुनिवेश। उन्होंने कहा, "हे नाथ, आप रात-दिन मुझे अपने चरण-कमलों में आश्रय दें। इस मुंहपत्ति की मुझे जरूरत नहीं।" यह कहकर उन्होंने मुंहपत्ति उतार कर श्रीमद् के सामने रख दी और उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। गद्गद् होकर वे कहने लगे, "मुझसे समागम का वियोग सहन नहीं होता।" इस विरहाग्नि की ज्वाला देखकर भक्तवत्सल भगवान् का कोमल हृदय भी द्रवित हो गया।

अहा! सत् समागम के लिए कैसी वेदना! (इस हार्दिक भाव का कोई प्रेमयुक्त भक्ति-परिपूर्ण हृदय ही अनुभव कर सकता है)। श्रीमद् ने मुनि देवकरणजी से कहा, "इस मुंहपत्ति को श्री लल्लूजी को दे दो और अभी इसे रखो।"

इसी वर्ष श्रीमद् ने, नड़ियाद में लिखे हुए "श्री आत्मसिद्धि शास्त्र" को, एकान्त में मनन करने के लिए श्रीमद् लघुराज स्वामी के पास भिजवाया। इस सम्बन्ध में मुनिश्री ने लिखा है, "उसे पढ़ते हुए और किसी गाथा को पढ़ते हुए मेरी आत्मा में आनन्द हिलोरें लेने लगता, और मुझे लगता कि एक-एक पद अपूर्व माहात्म्य से परिपूर्ण है" 'आत्मसिद्धि' का ही स्वाध्याय और मनन निरन्तर रहता, आत्मोल्लास होता...और कुछ अच्छा न लगता। दूसरी बातों पर तुच्छ भाव रहता।

"केवल सद्गुरु और उसी के भाव का माहात्म्य आत्मा में भासित होता।"

संवत् १९५४ में श्रीमद् लघुराज स्वामी ने वसो में चातुर्मास किया। यहां उन्हें एक महीने तक श्रीमद् राजचन्द्र के समागम का अपूर्व लाभ मिला जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई। दूसरे मुनियों के सम्बन्ध में भी श्रीमद् ने सिफारिश की तथा मुमुक्षुओं को आत्म-कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करने के लिए मुनिश्री से कहा। देवकरणजी मुनि को, खेड़े में, श्रीमद् राजचन्द्र का समागम तेईस दिन तक रहा। उसका वर्णन करते हुए श्री लघुराज स्वामी को एक पत्र में वे लिखते हैं—

"सद्गुरु की परिपूर्ण प्रतीति हुई, अत्यन्त निश्चय हुआ। रोमांच हो उठा। सत्पुरुष की प्रतीति का निश्चय रोम-रोम में व्याप्त हो गया। वृत्ति आज्ञावश हो गई...आपने जैसा कहा था,

वैसा ही हुआ। फल पक गया, रस चख लिया। शान्त हो गये। आज्ञानुवर्ती हमेशा शांत रहते हैं। सत्य पुरुष के चरणों में मोक्ष प्रत्यक्ष दिखायी देता है...हम केवल आहार के समय ही अपना समय व्यर्थ गंवाते हैं, बाकी तो सद्गुरु की सेवा में काल व्यतीत होता है...सर्वोपरि उपदेश में ऐसा लगा करता है कि शरीर को कृश करके, अन्तरंग तत्व की खोज कर, कलेवर को फेंककर चले जाओ...कृपालुदेव ने पूर्ण कृपा की है।"

अहा! समागम का कितना अद्‌भुत फल! चातुर्मास समाप्त होने पर सातों मुनि नड़ियाद में एकत्र हुए। अल्प आहार और अल्प निद्रा आदि नियमों का पालन कर, दिन का अधिकांश समय पठन, मनन, भक्ति ध्यान आदि में व्यतीत होता। खेड़ा तथा वसो में जो श्रीमद् का समागम हुआ, उस समय के बोध का स्मरण कर परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता।

संवत् १९५५ में सातों मुनियों को ईडर के पहाड़ पर श्रीमद् के दर्शन का अपूर्व लाभ मिला। श्रीमद् को ईडर के निर्जन पहाड़, गुफाएं, श्मशान-भुमि और जंगल आदि स्थान आत्मसिद्धि के लिए अनुकूल प्रतीत हुए। इस क्षेत्र का प्रभाव ही वैराग्य की वृद्धि के लिए प्रेरणादायक था। वृत्तियों के शांत होने पर, उदासीन और असंगता के नीरव वातावरण की सृष्टि होती। श्रीमद् ईडर के नीरव पहाड़ों में कांटे-कंकड़, झाड़,-झंखाड़ और नुकीले पत्थरों को लांघते हुए शरीर की परवाह न करते और आत्मप्रयोग में लीन रहते। 'द्रव्यसंग्रह' की गाथाओं का पाठ करते हुए, एक ही लय से उन्हें ऊंचे स्वर से पढ़ते। फिर ध्यान में समाधिस्थ हो जाते। उस समय की उनकी वीतराग स्वरूप दशा देखकर, मुनिगण भी अपूर्व शान्ति का अनुभव करते। इनकी

आत्मा में जो उत्कृष्ट भाव की श्रेणी प्रकट होती, वह वचनों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती।

सब मुनियों ने गुरु की आज्ञा पाकर, ईडर के पहाड़ों पर बने हुए श्वेताम्बर और दिगम्बर मंदिरों में वीतराग मूर्तियों के पहली बार दर्शन किये। इससे उनके मन में अपूर्व उल्लास पैदा हुआ। पहाड़ पर बने हुए दिगम्बर मुनियों के समाधि-स्थान, स्मरण-स्तूप, स्मशान, कुंड और गुफा आदि स्थानों का निरीक्षण किया। ईडर के पहाड़ों में कल्पवृक्ष की भाँति आम्र वृक्ष के नीचे, सातों मुनियों के साथ, कृपालुदेव एक शिला पर विराजे। मुनियों के समीप 'द्रव्यसंग्रह' का पाठ किया। उस समय साधु समुदाय की अद्भुत वैराग्य दशा के कारण, मुनियों की आत्मा में, सद्गुरु की भक्ति का अपूर्व उल्लास पैदा हुआ। इस प्रकार की तीव्र वैराग्य दशा को प्राप्त मुनि देवकरणजी कहने लगे, "अब हमें गांव में जाने की क्या आवश्यकता है?...लेकिन क्या करें? पेट पालना है।" कृपालु देव ने कहा "मुनियों का पेट संसार के कल्याण के लिए होता है। यदि मुनियों के पेट न होता, तो वे गांवों में न जाकर, पहाड़ की गुफा में रहते हुए, केवल वीतराग भाव से जंगल में विचरण करते। लेकिन इससे संसार का कल्याण न हो पाता, इस कारण मुनियों का पेट संसार के कल्याण के लिए है।"

ईडर में, एक बार कृपालुदेव विशाल शिला पर विराज रहे थे। वे 'उत्तराध्ययनसूत्र' की गाथा का इतने अलौकिक दिव्य स्वर से पाठ कर रहे थे कि यह स्वर वन में चारों ओर फैल जाता। गाथा का पाठ करने के पश्चात्, उसका भावार्थ वे मुनियों को समझाते। ग्रन्थ को पूरा सुनने के बाद, इस अपूर्व समागम

की मादकता में मुनि देवकरणजी कह उठे, "अब तक परम गुरु के जितने भी समागम हुए, उनमें यह समागम सर्वोत्कृष्ट है। जैसे मंदिर के शिखर पर कलश चढ़ाते हैं, उसी प्रकार यह प्रसंग परम कल्याणकारी सर्वोत्कृष्ट मान्य हुआ।"

ईडर में सातों मुनियों को कृपालुदेव का सत्संग अपूर्व था। मुनिगण ईडर के आसपास छोटे-छोटे गांवों में विहार करते; वहां पहाड़, जंगल आदि निर्जन वन का त्यागीयों के अनुकूल क्षेत्रों में ध्यान आदि की भावनापूर्वक विचरण करते।

श्रीमद् लघुराज स्वामी दो-अढ़ाई महीने, ईडर के आसपास के क्षेत्रों में विचरण करते रहे। संवत् १९५५ का चातुर्मास उन्होंने नड़ियाद में किया।

बम्बई में श्री लघुराज स्वामी के चातुर्मास होने के बाद, श्रीमद् के साथ उनका परिचय तथा पत्र-व्यवहार बढ़ा जिससे सद्गुरु के प्रति उनका प्रेम और भक्ति छिपाये न छिपी। परिणाम यह हुआ कि लोगों में तथा साधुओं में इस बात की चर्चा होने लगी। यह चर्चा सुनकर संघाड़े के साधु खंभात में इकट्ठे हुए तथा उन्होंने लघुराज आदि मुनियों को खंभात के संघाड़े से बहिष्कृत कर दिया। इस सम्बन्ध में श्री अम्बालाल भाई ने एक पत्र में लिखा है—

"ऐसे लौकिक उदय से मन में संकोच भाव न रखते हुए महामुनि आनन्दपूर्वक विचार करते हैं—असत् संग दूर होगा। समस्त संसार का ममत्व त्याग दिया था, उसमें इस प्रलापी संघाड़े के कारण कुछ संलग्नता रह गई थी; वह भी सहज भाव से छूट गई। यह परम कृपा श्री सद्गुरु की ही है। अब तो हे जीव! तेरा गच्छ, तेरा मत, और तेरा संघाड़ा बहुत बड़ा हो गया—इतना

बड़ा जितना चौदह राज लोक। षड्दर्शन पर समभाव और मैत्री रख कर निर्ममत्व भाव से, वीतराग भाव से, आत्मसाधन का अतिशय अवकाश प्राप्त हुआ......"

दो-चार महीने मुनियों का समागम करते रहने के लिए श्रीमद् ने मुमुक्षु-वर्ग से अनुरोध किया था। इसलिए मुमुक्षु लोग मुनियों के दर्शन-समागम के लिए उनके पास जाते और पत्र-व्यवहार द्वारा लाभ उठाते।

उसके बाद वीरमगाम, अहमदाबाद, नरोड़ा आदि स्थानों में मुनियों को श्रीमद् के समागम का लाभ मिला।

संघाड़े से अलग हो जाने के बाद, स्थानकवासी वेश में होने के कारण, स्थानकवासियों के सम्पर्क से दूर रहने के लिए, श्री लल्लूजी स्वामी ने संवत् १९५६ का चातुर्मास 'सोजित्रा' में किया। कर्म की कितनी विचित्रता है कि जिन मुनियों को समाज ने संघाड़े के बाहर कर दिया था, उन्हीं मुनियों का श्रीमद् के साथ संवत् १९५७ में, अहमदाबाद में समागम हुआ। यहां 'ज्ञानार्णव' और 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' नामक दो उच्च कोटि के हस्तलिखित दिगम्बर ग्रन्थ जो श्रीमद् के पास थे, उन्हें उन्होंने अपनी मातुश्री देवमाता तथा पत्नी झबकबा के हाथ, श्री लघुराज-स्वामी तथा देवकरणजी मुनियों को भेंट भिजवाई। देवकरणजी ने श्रीमद् से प्रश्न किया—"आपका शरीर एकदम इतना कृश कैसे हो गया?" श्रीमद् ने उत्तर दिया—"हम शरीर के सामने पड़े हैं।"

दूसरे दिन श्री लघुराज स्वामी और देवकरणजी को आगाखां के बंगले में बुलाकर श्रीमद् ने अपनी आत्मदशा के सम्बन्ध में बातचीत की—"अब केवल वीतरागता के सिवाय

इसमें कोई भेदका नहीं। इनमें और वीतराग में कोई भेद नहीं समझना।" दोनों मुनियों को इस बात का विश्वास था, परन्तु श्रीमद् के मुख से यह सुनकर उनके हृदय में परम उल्लास हुआ।

संवत् १९५७ में, राजकोट में, चैत्र वदी ५ के दिन, जब श्रीमद् राजचन्द्र का देहोत्सर्ग हुआ तो उस समय श्रीमद् लघुराज स्वामी काविठा में थे। एकान्त जंगल में रहने का अभ्यास था। उस दिन उनका उपवास था। पारणा के समय जब वे गांव में आये तो श्रीमद् के देहोत्सर्ग का समाचार सुनकर फौरन ही जंगल में वापिस लौट गये। विरह-वेदना का वह दिन उन्होंने भोजन-पान के बिना, एकान्त जंगल में, भक्ति-भजनपूर्वक बिताया। उन्हें बहुत ही आघात पहुँचा। धर्म के महान् अवलम्बन तथा पोषणदाता कल्पवृक्ष के समान श्रीमद् सद्गुरु भगवान् का वियोग उन्हें अत्यन्त असह्य हो उठा।

संवत् १९५७ का चातुर्मास श्री लघुराज स्वामी ने वसो में किया था। श्रीमद् की मौजूदगी में, श्रीमद् जहाँ होते, उनके समागम की भावना से प्रेरित हो, श्री लघुराज स्वामी उन्हीं स्थानों में विहार करते और उनके समागम का लाभ उठाते। परन्तु अब वैसा प्रबल कारण न रहा, उन्हें जंगल और पहाड़ प्रिय थे, इसलिए एकांत में विशेष रूप से आत्म-साधन के लिए वे जंगलों और पहाड़ों में विचरने लगे।

समाज में भी कितने ही साधु और श्रावक विमुख भाव से, सन्मार्ग के साधक इन मुनियों के प्रति विषम दृष्टि रखते। उन्हें भोजन-पान, वसति, और वस्त्र आदि हर तरह की मुश्किलें खड़ी करने में वे ज़रा भी कमी न करते। तथा उन्हें उन्मार्गगामी कहकर उनके विरुद्ध प्रचार किया करते।

अब दूसरी ओर देखिए।

मुनिश्री जहाँ-जहाँ विचरण करते, वहाँ श्रद्धालु जीवों के प्रबल पुण्य के स्वाभाविक उदय से अनेक प्रकार से उनके माहात्म्य का आभास मिलता। परम वीतरागी राजप्रभु की कृपा से रात्रि-दिवस वे राज स्वरूप में रमण करते तथा निर्भय होकर विचरण करते। देह का ममत्व छोड़ देने के कारण, आत्मानंद में झूमते, पारमार्थिक दृष्टि से भव्य जीवों पर निस्पृह करुणा दिखाते, तथा अद्भुत आत्मदशापूर्वक अनेकानेक भव्य जनों को सद्धर्म के रंग में रंगते।

संवत् १९६३-६४ में नार के मुमुक्षु रणछोड़ भाई (जिनके पिता मुनि लक्ष्मीचंदजी मुनि लघुराज स्वामी के साथ संघाड़े से बहिष्कृत कर दिये गये थे) ने तन-मन और धन से, सब तरह से, अन्त समय तक, श्रीमद् लघुराज स्वामी के चरणों की सेवा की थी। इसी प्रकार संवत् १९६६ में मारवाड़ के रत्नराज स्वामी ने भी श्रीमद् लघुराज स्वामी की सेवा में बहुत-सा समय व्यतीत किया।

श्रीमद् के देहोत्सर्ग के बाद, श्रीमद् लघुराज स्वामी ने धरमपुर, करमाला, घोरनदी, नरोडा, राणकपुर, पालणपुर, जूनागढ़, धुंधुका, भावनगर, खंभात, वटामण, ईडर, वडाली, खेरालु, तारंगा, वसो, फेणाव, बोरसद, पालिताणा, वडवा, नड़ियाद, उमरेठ, बगसरा, राजकोट, नार, काविठा, सीमरडा, तारापुर, और संदेशर, आदि स्थानों में विचरण किया।

कितने ही स्थानों में पहाड़ और जंगलों में विचरण करते हुए, भीलों ने उन्हें घेर कर उपसर्ग किया। कितने ही विषम दृष्टिवालों ने मुनियों की निन्दा का काम हाथ में लिया; तथा

जिससे मुनिश्री के प्रति तिरस्कार की भावना पैदा हो ऐसी चर्चाओं में वे अपना महत्व समझने लगे। फिर भी मुनिश्री शान्तिपूर्वक समस्त उपसर्गों को सहन करते। क्योंकि मुनिश्री को श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा था कि वणिकों तुम्हारा गुरु बनना चाहिये !

कर्म की गति भी विचित्र थी। एक के बाद एक दुख के अवसर आने लगे। इधर परम कृपालु देव श्रीमद् राजचन्द्र जैसे शिरोमणि पुरुष का वियोग हो गया, जीवन-भर के साथी मुनि देवकरणजी चल बसे, सत्-संगनिष्ठ अम्बालालभाई का आश्रय भी न रहा, और उधर वृद्धावस्था के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती हुई बीमारियों के कारण उनका खुदका शरीर क्षीण हो रहा था और पैर में वायु की तकलीफ बढ़ती जा रही थी।

इस प्रकार चारों ओर से दुख और कष्ट से घिरे हुए "चौथे आरे के महामुनि" श्रीमद् लघुराज स्वामी ने निश्चय किया की जो परिषह आये, उसपर विजय प्राप्त करना ही निर्ग्रन्थ मार्ग है। परमकृपालु देव श्रीमद् राजचन्द्र ने मुनिश्री से कहा था, "हे मुनि, यह दुषम काल है, इसलिए जड़भरत जैसे होकर विचरण करना: ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होगी उसे प्रगट न करना! इस काल के जीव पके खरबूजे की भाँति हैं, जो कठोरता सहन नहीं कर सकते। इसलिए लघुता धारण कर कल्याण मूर्ति बनो तो तुम्हारे द्वारा अनेक जीवों का कल्याण होगा।" इस शिक्षा को अन्तरंग में धारण कर, आत्मदशा को गुप्त रख कर, शांत भाव से सहनशीलता की मूर्ति बन, मुनिश्री, जड़भरत की भाँति रहते हुए विचरण करने लगे, और चिन्तन करने लगे कि हरि इच्छा से जो हो; सो ठीक; हम दृष्टा बनकर देखा करेंगे। उनकी इच्छा किसी एकान्त स्थान में निस्संग भाव से रहने की थी।

संवत् १९७२ में जूनागढ़ से मुनिश्री एक मुमुक्षु को पत्र लिखते हैं—

"गुरु के प्रताप से यहां सुखसाता है...बहुत दिनों से एकान्त निवृत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा थी। गुरु के प्रताप से वह योग आ गया है...यहां किसी अद्‌भुत विचार और आत्मिक सुख का अनुभव होता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अनन्त शक्तियां हैं, सिद्धियां हैं; पूर्व भव भी जानने में आता है; आनन्द-ही-आनन्द है। एक ही श्रद्धा से कहा अथवा लिखा नहीं जा सकता; आपके चित्त में शान्ति होने के लिये यह लिखा गया है। और किसी से कहने की आवश्यकता नहीं। शान्ति, शान्ति, शान्ति..."

मुनिश्री ने स्थानकवासी वेश छोड़ दिया था। ओघा की जगह वे मोरपीछी रखते और मुहपत्ती उन्होंने निकाल दी थी। मोरपीछी कम उपाधि और विशेष यत्ना का साधन बनी थी।

कभी-कभी अनेक स्थानों के श्रद्धालु मुमुक्षु मुनिश्री के दर्शन-समागम के लिए आते और भक्ति भजन का लाभ उठाते। वडवा में मुनिश्री के साथ कितने ही मुमुक्षु समुद्र किनारे जाते। मुनिश्री हाथ में मोरपीछी और कमर में केवल एक कौपीन धारण कर समुद्र की रेत में भक्ति-भजन में सारी रात गुजार देते। इस प्रकार पूरे उन्नीस दिन आंख बन्द किये बिना, मुनिश्री रात-दिन भक्ति-भाव में लीन रहे। इस अपूर्व भक्ति-भाव से अनेक जीवों को अपूर्व लाभ मिला।

इसी प्रकार सीमरडा में पर्यूषण पर्व के समय भक्ति-भाव में लीन रहते हुए, प्रभुश्री को, कोई परम उल्लास होने से अपूर्व परम आनन्दमय भक्ति का अवसर प्राप्त हुआ। इन सब बातों की खुमारी अनेक जीवों को बहुत समय तक स्मरण रही। इस करुणामूर्ति ने बहुत-से जीवों को सत्पुरुष के सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया। इस

अगम भक्ति के अपूर्व लाभ से कृपालुदेव ने मुमुक्षुओं को जो वाक्य लिखे थे, वे ये हैं—

"गुप्त चमत्कार सृष्टि के लक्ष्य में नहीं हैं।"

"सत्पुरुष का योगबल जगत का कल्याण करे।"

उन्होंने इन दोनों बातों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था।

दुषम काल में, प्रत्यक्ष सत्पुरुष के समीप भक्ति-भाव का ऐसा योग, जीव को किसी पूर्व पुण्य से ही मिलता है; तथा जीव को सहज ही परम उल्लास भाव प्रकट होकर अपूर्व लाभ का कारण बनता है।

मुमुक्षुओं की प्रबल परमार्थ पिपासा प्रकट हुई देखकर, श्री लघुराज स्वामी उन्हें ज्ञान और भक्ति-रस का पान कराते जिससे परम कृपालु देव द्वारा प्रबोधित सनातन जिन वीतराग मार्ग की प्रभावना होने लगी। अपूर्व आत्मानंद के आनंद का आस्वादन करते हुए, वैराग्य, प्रेम, और भक्ति की साक्षात् मूर्ति के समान, भव्यजनों के उद्धार के लिए, करुणामूर्ति परोपकारशील, सन्त-शिरोमणि इस महात्मा (लघुराज स्वामी) के दर्शन-समागम की इच्छा करते हुए, अनेकानेक भव्यजन, आत्म-कल्याण की सिद्धि के लिए, अत्यंत उत्साह से उनके समीप आने लगे। श्री लघुराज स्वामी की अद्भुत ज्ञान-दशा और उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित, संसार के दुःखरूपी दावानल से तप्त जीव उनके सन्निकट आत्म कल्याण करने लगे। उनकी इच्छा थी कि यदि यह महात्मा किसी स्थान पर स्थिरतापूर्वक किसी आश्रम के रूप में, परम शान्ति और सत्संग का धाम बन सके तो धर्म के इच्छुक हजारों जीवों को अभीष्ट सिद्धी हो।

श्रीमद् राजचन्द्र २०२४ जन्म शताब्दी

संवत् १९७६, कार्तिक पूर्णिमा से लगाकर आठ दिन तक, सन्देशर गांव में (अगास के पास), श्रीमद् लघुराज स्वामी के समीप अनेक गांवों से आये हुए हजारों भाई-बहन मुमुक्षुओं ने मिलकर, अपूर्व, परम उल्लास भावपूर्वक श्रीमद् राजचन्द्र के जन्मदिन का महोत्सव मनाया। संदेशर गांव के पूज्यश्री जीजीभाई कुबेरदास ने श्रीमद् लघुराज स्वामी की स्थिरता के लिए, आश्रम बनाने के निमित्त, परम उल्लास-भाव से, बारह बीघा खेत अर्पित कर दिया। उस समय सब भाई-बहनों ने मिलकर सत्रह हजार रुपये इकट्ठे किये। इस प्रकार सब की परम इच्छा से 'श्री सनातन जैनधर्म श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास' की स्थापना हुई। परमार्थ पुण्योदय का प्रभात शुरू हुआ।

परिषह और उपसर्ग वाले इस पंचमकाल में श्रीमद् के बोध को समभाव से हृदयंगम करने की इच्छा करते हुए मुनिश्री, प्रायः विकट जंगलों में विहार करते, जिससे वे 'वनवासी मुनि' के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे अब समस्त मुमुक्षु भाइयों की प्रबल इच्छा से, अनेक जीवों के कल्याण का कारण जान, इस आश्रम के अधिष्ठाता बने। चरोतर में असंग अध्यात्म सात्विक वातावरण पैदा कर, उसमें प्राणार्पण कर, चरोतर के आश्रम को प्राणवान बनाया। यह आश्रम इन प्रत्यक्ष आत्मानुभवी महिमाशाली सत्पुरुष के योग से इस पृथ्वी पर तीर्थ शिरोमणि बना।

इस आश्रम में ज्ञानी अथवा अज्ञानी, गृहस्थ अथवा त्यागी, राजा अथवा रंक-सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार प्रभुश्री के दर्शन-समागम और भक्ति-भजन का लाभ मिला। उन्होंने सब को परम कृपालु देव श्रीमद् राजचन्द्र प्रभु के प्रति श्रद्धावान बनाया। 'सत्य-एक आत्मा' की सिंहगर्जना होने

लगी। श्रद्धालुओं को सत्पुरुष के प्रत्यक्ष योग का अद्भुत सामर्थ्य और माहात्म्य देखने को मिला। बहुत-सों को इस प्रत्यक्ष क्षमाशील प्रेम-मूर्ति के रोम-रोम में-से राज नाम के स्वर की झंकार सुनाई देने लगी। अनेकों को अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव की सार्थकता समझ में आई। बहुत-सों को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा का ज्ञान हुआ। इस प्रकार इस प्रत्यक्ष ज्ञानी के दर्शन से, सत्संग से और उनके सद्बोध के प्रताप से, अपूर्व उल्लसित भक्ति-रस के लाभ से, अनेक जीव सद्धर्म के रंग में रंगे जाने के कारण सन्मार्ग के सम्मुख हुए।

प्रभुश्री आत्मदृष्टि से सब में आत्मा का दर्शन करते और सब को 'प्रभु' कहकर सम्बोधित करते। इस प्रेम-मूर्ति में सब को-छोटे-से बालक से लगाकर वृद्ध, स्त्री-पुरुष तक को-एक ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती की प्रभु हमारे हैं, और वे प्रेमपूर्वक उनको 'प्रभुश्री' कहकर बुलाते।

प्रभुश्री ने आश्रम में कुल चौदह चातुर्मास व्यतीत किये। प्रभुश्री की छत्रछाया में आश्रम में श्रीमद् राजचन्द्र गुरु-मंदिर, श्वेताम्बर-दिगम्बर मंदिर, व्याख्यान मंदिर, पुस्तकालय आदि की स्थापना हुई। अनेक गांवों से आये हुए मुमुक्षुओं ने आश्रम में कमरे, बंगले और धर्मशालाएं आदि बनवाई।

संवत् १९८१ में, बांधणी गांव के श्री गोवर्धनदास कालिदास पटेल (ब्रह्मचारीजी) ने प्रभुश्री की सेवा में अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया।

प्रभुश्री आत्म-दशा को गुप्त रख, ऋद्धि-सिद्धि को अप्रकट रखते हुए, समझ में न पाये ऐसे राजस्वरूप में रात्रि-दिवस रमण करते हुए, जड़भरत के समान विचरण करने लगे। इस

करुणामूर्ति ने आश्रम तथा अन्य स्थानों में, अपने अन्तर्ज्ञान चक्षु द्वारा कतिपय भाग्यशाली मुमुक्षुओं के जीवन के अन्त समय में उपस्थित रह, उन्हें समाधि-मरण के प्रति उन्मुख कर, उनके मनुष्य जीवन को सफल किया।

अहो! अहो!! सत्पुरुषों का उपकार!

संवत् १९८९ में, मुनिदेव श्री मोहनलाल श्री महाराज प्रभुश्री की छत्रछाया में समाधिस्त हुए।

प्रभुश्री ने सनावद, पूना, अहमदाबाद, अंधेरी (बम्बई), बाहुबलिजी, भड़ौंच, सूरत, नार, नवसारी, धामण, वढ़वाण, कैंप, वांकानेर, मोरबी, ववाणिया, आबू, आहोर, सिद्धपुर, और नासिक आदि स्थानों में विचरण किया। कितने ही स्थानों पर प्रभुश्री की छत्रछाया में परम कृपालु देव श्रीमद् राजचन्द्र के चित्रपटों की स्थापना हुई। प्रभुश्री जहाँ-जहाँ विचरण करते, वहाँ-वहाँ जिज्ञासुओं को धर्म-लाभ होता। इस प्रकार अनेक जीवों के लिए कल्याण-मूर्ति बन, श्रीमद् राजचन्द्र की आज्ञा में तन्मय भाव से समस्त जीवन बिता, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास के सम्पूर्ण प्राणदाता, मुक्तिमंदिर का शिलारोपण सम्पन्न कर, सन्त-शिरोमणि श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री) संवत् १९९२, वैशाख सुदी ८ को, रात के आठ बजकर दस मिनट पर, ८२ वर्ष की अवस्था में, आश्रम में निज रूप में समाधिस्त हो, इस नाशवान देह को त्याग, परमपद की ओर प्रयाण किया।

अगणित वंदन हो इस करुणामूर्ति को!

श्रीमद् राजचन्द्र ने अपने एक पत्र में लिखा है—

"ॐ परम कृपालु मुनिवर के चरण-कमल में परम भक्तिपूर्वक सविनय नमस्कार!"—(श्रीमद् राजचन्द्र, पत्र नं. ८७५)

प्रकाश्या जिस गुरुराज ने
सनातन मार्ग मुक्तिका
दिया सन्मार्ग वह हमको
अहो! उपकार प्रभुश्री का!

सायला के सन्त
श्री सौभागभाई
श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

श्री सोभाग भाई

"परमार्थ के अखंड निश्चयी, निष्कामस्वरूप (   )
के बारम्बार स्मरणस्वरूप, मुमुक्षुजनों द्वारा अनन्य प्रेमपूर्वक सेवा करने योग्य, परम सरल, और शान्त मूर्ति श्री सुभाग्य के प्रति......।"

"हे श्री सोभाग, तेरे सत् समागम के अनुग्रह से आत्मदशा का स्मरण हुआ। इसलिए तुझे नमस्कार करता हूँ।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

इन शब्दों द्वारा जिनके सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र ने उल्लेख किया है, वे हैं सायला के सन्त श्री सोभागभाई। सोभागभाई का जन्म संवत् १८८० में हुआ था। उनके पिता सेठ लल्लूभाई जब मारवाड़ गये, तो वे वहाँ से ज्ञान-प्राप्ति के हेतु, 'बीजज्ञान' किसी योग्य पात्र को दिखाने के लिए लाये थे। पिताजी की आज्ञा पाकर, काठियावाड़-भर में प्रसिद्ध 'कवि रायचन्द भाई' को उसे देने के लिए, संवत् १९४६ में सोभाग भाई मोरबी में श्रीमद् से मिलने गये। उनके आने के पहले ही अपने निर्मल ज्ञानसे श्रीमद् को उनके आने का पता लग गया। सोभागभाई को जो कुछ उन्हें कहना था, उसे एक कागज के पुर्जे पर लिखकर गद्दी के पास रख दिया। और जैसे भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को, पहली भेंट होने पर नाम लेकर बुलाया था, उसी प्रकार जब सोभागभाई आये तो श्रीमद् ने कहा, "आओ सोभागभाई, इस गद्दी के पास रखे हुए कागज के पुर्जे को खोल

कर पढ़ो।" उसे पढ़कर सोभागभाई के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

इस प्रकार पहले दर्शन से ही सोभागभाई को श्रीमद् राजचन्द्र के प्रति ऐसी अपूर्व श्रद्धा हो गयी कि वे अलौकिक ज्ञानप्राप्त कोई महापुरुष हैं। श्रीमद् को उन्होंने तीन बार नमस्कार किया। सोभागभाई श्रीमद् से उम्र में ४४ वर्ष बड़े थे। प्रथम समागम में उनके बीच अन्तरंग एकता प्रकट हुई। इस भेंट के बाद सोभागभाई सायला चले गये। थोड़े दिनों बाद उनके पिताजी का देहान्त हो गया और कुटुम्ब के पालन-पोषण का भार इनके सिर पर आ पड़ा। इस प्रकार की कठिनाइयों के सम्बन्ध में उन्होंने श्रीमद् को पत्र लिखे। संवत् १९४६ में श्रीमद् अपने पत्र में उन्हें लिखते हैं, "ईश्वर पर विश्वास रखना, एक सुखदाई मार्ग है। जिसका उसपर दृढ़ विश्वास होता है, वह दुखी नहीं होता; अथवा दुखी हो भी तो दुख का अनुभव नहीं करता। उल्टे, उसे दुख सुख-रूप हो जाता है...। संसार में प्रारब्ध के अनुसार चाहे जैसा शुभ-अशुभ उदय आये, परन्तु उसमें अपने को राग-द्वेष का संकल्प नहीं करना चाहिए।" इस प्रकार के सोभागभाई को निस्संकोच, विस्तारपूर्वक और सहृदयतापूर्वक लिखे हुए पत्रों की बड़ी संख्या है। इन पत्रों में श्रीमद् ने अपने अनुभव की अद्भुत अन्तर्दशा का वर्णन भी किया है। तथा सोभागभाई को भी उपाधि से दूर रख, आत्मा सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठाकर, उनके समाधान के लिए पठन और विचार के लिए अनुप्राणित किया है।

संवत् १९४६ में सोभागभाई को मोरबी, ववाणिया और सायला में श्रीमद् का समागम हुआ था।

श्री डुंगरसी गोसलिया सोभागभाई के खास मित्र थे। पहले सोभागभाई उनपर ज्ञानी जैसी श्रद्धा रखते थे, लेकिन श्रीमद् राजचन्द्र के सम्पर्क में आने के बाद, सच्चे ज्ञानी की पहिचान हो जाने पर, उन्होंने श्रीमद् की शरण ली और गोसलिया को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। संवत् १९४७ के आरम्भ में सोभागभाई के कुछ पत्रों का उत्तर देते हुए श्रीमद् ने लिखा है, "परमपूज्य, केवलबीज सम्पन्न सर्वोत्तम उपकारी श्री सोभागभाई, भगवान् को परिपूर्ण और सर्वगुण सम्पन्न कहा जाता है, फिर भी उसमें कुछ कम अपलक्षण नहीं हैं। चित्र-विचित्र करना ही उसकी लीला है! अधिक क्या कहें!"

"आपसे विज्ञप्ति है कि वृद्ध से युवा होना और इस अलख वार्ता के अग्रसर का अग्रसर होना।"

"जीवनमुक्त सौभाग्यमूर्ति सोभागभाई...भक्ति और सत्संग विदेश चले गये हैं...काल भी दुषम है...दुःषम को कम करने के लिए आशीर्वाद दो..."

"...और फिर-फिर सतयुग का स्मरण होता है। आप जानते हो कि इस काल में मनुष्य का मन मायावी सम्पत्ति की ओर जाता है। कोई विरला ही निर्वाण-मार्ग की दृढ़ इच्छा रखनेवाला देखने में आता है, अथवा किसी-किसी को वह इच्छा सत्पुरुष के चरणों की सेवा से प्राप्त होती है।"

"...बारम्बार कहते हो; दर्शन की बहुत आतुरता है, परन्तु पंचम काल महावीर भगवान ने कहा है, कलियुग भगवान व्यास ने कहा है, फिर यह एक साथ कैसे रहने दे सकता है?"

"...आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञा को हम नमस्कार करते हैं। कलिकाल में परमात्मा को यदि किन्हीं भक्तिमान पुरुषों पर प्रसन्न

होना हो, तो उनमें आप एक हैं। हमें इस काल में तुम्हारा बड़ा सहारा मिला है और इसी से जीते हैं।"

सचमुच सत्पात्र जीव के लिए श्रीमद् के ये अद्‌भुत उद्‌गार हमें सम्मार्ग का पात्र बनने के लिए प्रेरणा देते हैं।

संवत् १९४७ में सोभागभाई और गोसलिया को राळज में श्रीमद् का समागम हुआ। उसके बाद सोभागभाई श्रीमद् के साथ ववाणिया होते हुए सायला चले गये। संवत् १९४७ में श्रीमद् सोभागभाई को लिखते हैं, "...दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात यह है कि आप जैसों को सम्यक्‌ज्ञान के बीज की, और पराभक्ति के मूल की प्राप्ति होने पर भी, उसके बाद का भेद–ज्ञान क्यों नहीं होता? तथा हरि के प्रति जितना चाहिए, उतना अखंड लय रूप वैराग्य क्यों नहीं बढ़ता?...इसका यदि कोई कारण समझ में आता हो तो लिखना।"

इस प्रकार सोभागभाई का श्रीमद् के साथ पत्र–व्यवहार बढ़ता गया। ज्ञान की चर्चा होती गयी और निरन्तर पुरुषार्थ करने से सोभागभाई की अन्तरंग दशा में वृद्धि होने लगी। संवत् १९४८ में सोभागभाई के लिखे हुए एक पत्र के उत्तर में श्रीमद् लिखते हैं, "तुमने जो लिखा है," मांग–खाकर गुजर करेंगे, लेकिन खेद–खिन्न न होंगे। ज्ञान के अनन्त आनन्द के सामने वह दुख तृण के समान तुच्छ है"—इस वाक्य को हमारा नमस्कार! ये वचन सच्ची योग्यता के बिना नहीं लिखे जा सकते। एक दूसरे अवसर पर श्रीमद् अपने पत्र में लिखते हैं, "...हम जानते हैं कि आपकी ऐसी दशा है कि धीरज छूट जाय, फिर भी धीरज में किसी प्रकार की कमी न होने देना, यही तुम्हारा कर्तव्य है और यथार्थ ज्ञान प्राप्त का यही मार्ग है...चाहे जिस प्रकार हो, इस लोक–लज्जा–रूप भय के

स्थान भविष्य को, भूल जाना ही ठीक है। उसकी 'चिन्ता से' परमार्थ का विस्मरण हो जाता है और यदि ऐसा हो तो यह महान् कष्ट-रूप है; इसलिए जिससे यह कष्ट न हो, वैसे बारंबार विचार करना ही योग्य है। हम और तुम ही यदि लौकिक दृष्टि से आचरण करने लगें तो फिर अलौकिक दृष्टि से कौन करेगा ?"

परमार्थ की प्राप्ति के इच्छुक मुमुक्षु को व्यवहार में सत्, न्याय और नीतियुक्त जीवन व्यतीत करने में आती हुई कठिनाइयों में कितना असाधारण मार्गदर्शन है!

संवत् १९४९, चैत्र महीने में सायला से अपने पत्र में सोभागभाई श्रीमद् को लिखते हैं, "आपकी सामर्थ्य अद्‌भुत है, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। जो जानना है, वही जानना है; और जो जानता है, वह अनुभव करता है। किसी दूसरे को इसकी खबर नहीं।"

सोभागभाई को श्रीमद् के समागम का योग बारम्बार न होने से असह्य विरह का अनुभव होता। मोरबी से वे श्रीमद् को लिखते हैं, ". अब आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें। चाहे समागम रखें। परन्तु मुझे तो रात-दिन आपके ही नाम का स्मरण रहता है। इसलिए कृपा करके मेरी इच्छा पूरी करें। उसमें आपका कुछ बिगड़ने वाला नहीं है।" इसके उत्तर में बम्बई से श्रीमद् सोभागभाई को लिखते हैं—"क्या लिखें? और क्या कहें? एक आत्म-वार्ता में ही जिनका अविच्छिन्न समय व्यतीत होता हो, ऐसे आप जैसे पुरुष के सत्संग के हम दास हैं। अत्यन्त विनयपूर्वक अपने चरणों में हमारा नमस्कार स्वीकार करें।"

अद्‌भुत! अद्‌भुत!! भक्त का भगवान के प्रति और भगवान का भक्त के प्रति कितना अद्‌भुत प्रेम!

श्रीमद् बारम्बार सोभागभाई को आत्मार्थ में दृढ़ कराते और इसी की चर्चा में उन्हें लगाते। फलस्वरूप, केवलज्ञान जैसे अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछकर, उनके सम्बध में विचार करने के लिए वे कहते।

संवत् १९५०, भादो महीने में सायला से श्री सोभागभाई लिखते हैं, "...हमारा मन किसी ऋद्धि-सिद्धि को ध्यान नहीं मानता। हमारी तो आपके समागम में रहने और ज्ञानचेतना में रमण करने की ही इच्छा है।" संवत् १९५१-५२ में श्रीमद् जब खंभात और काविठा पधारे तब श्री सोभागभाई तथा श्री डुंगरशी गोसलिया दोनों को श्रीमद् के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ।

संवत् १९५२ में सायला से श्री सोभागभाई श्रीमद् को लिखते हैं, "आप तो संसार में रहते हुए भी वीतराग हैं लेकिन संसार के जीवों के कल्याण के लिए जैसा उचित समझें वैसा अभी थोड़े समय में विचार हो सके तो अच्छा...लोग केवलज्ञान का अर्थ आजकल रूढ़ि अनुसार करते हैं, वह हमें ठीक नहीं लगता: इसका दूसरा ही अर्थ होना चाहिए।"

श्री सोभागभाई आत्मज्ञान संबंधी अनेक प्रश्नों के सारभूत, श्रीमद् के हृदय में स्थित, परमार्थ मार्ग के अन्तरंग रहस्य-रूप 'स्व' और 'पर' के श्रेयार्थ को जानने के कारण भाग्यशाली बने। यदि किसी मुमुक्षु को श्रीमद् से कुछ कहना होता तो वे वयोवृद्ध श्री सोभागभाई द्वारा ही कहलवाते; और वे दयालु होने के कारण सहजभाव से प्रत्येक मुमुक्षु की बात श्रीमद् के सामने प्रस्तुत करते। 'श्री आत्मसिद्धि शास्त्र' लिखने की प्रेरणा भी श्रीमद् को श्री सोभागभाई द्वारा ही प्राप्त हुई थी। उन्होंने ही अनुरोध किया था कि आत्मा सम्बन्धी छह पदों के गद्य में होने के

कारण, उन्हें कण्ठस्थ करना मुश्किल है, इसलिए यदि उनका भावार्थ पद्य में लिखा जा सके तो उससे मुमुक्षुओं का परम उपकार हो सकता है।

यह प्रार्थना एक ऐसे पुरुष द्वारा और ऐसे समय पर की गई कि अनेक जन्मों के अज्ञान-रूपी अंधकार को दूर करनेवाले, समस्त धर्मशास्त्रों के निचोड़-स्वरूप, और इस पृथ्वी के अमृत के समान अमर काव्य 'आत्मसिद्धि शास्त्र' को श्रीमद् ने नड़ियाद में, केवल डेढ़ घंटे के भीतर, १४२ गाथाओं में, सरल भाषा में लिखकर, आत्मज्ञान के जिज्ञासुओं को एक अमूल्य भेंट प्रदान की।

'आत्मसिद्धि शास्त्र' की एक प्रति श्रीमद् ने सोभागभाई के मनन के लिए भी भेजी थी।

संवत् १९५३, कार्तिक महीने में सायला से श्री सोभागभाई श्रीमद् को लिखते हैं, "जान पड़ता है कि 'आत्मसिद्धि शास्त्र' १४ पूर्वों का सार है। मैं तथा गोसलिया हमेशा इसका स्वाध्याय करते हैं। बड़ा आनन्द आता है। अब दूसरे किसी ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रही...पांच महीने से मुझे बुखार आता है, ऐसी हालत में यदि आपने 'आत्मसिद्धि शास्त्र' न भेजा होता तो अब तक इस देह का टिकना ही मुश्किल था। यह ग्रन्थ पढ़कर आनन्द होता है, इससे जी रहा हूँ।"

श्रीमद् के हृदय के पारखी मित्र श्री सोभागभाई की अंतिम तैयारी के समय, श्रीमद् ने संवत् १९५३, वैसाख महीने में, दस दिन तक, सायला में अपने अपूर्व समागम का लाभ प्रदान कर उनकी आत्मा को उत्कृष्ट पुरुषार्थ के लिए प्रेरित किया। उस समय सोभागभाई की शारीरिक दशा बहुत नरम रहने पर भी, श्रीमद्

उन्हें अपने साथ, अपने पूर्वजन्म की स्मरण भूमि ईडर में ले गये और वहाँ उन्हें दस दिन अपने साथ रखा। उसके बाद सोभागभाई सायला लौट गये। फलस्वरूप सत्पुरुष के सम्पर्क से मनुष्य जीवन को अमूल्य रूप से सार्थक बनाने के कारण वे अत्यन्त भाग्यशाली बने।

श्रीमद् ने श्री अम्बालालभाई को भी श्री सोभागभाई के अखंड आत्मपुरुषार्थ में प्रबल प्रेरणा प्रदान कर समाधिमरण में सहायक होने के लिए सायला जाने की आज्ञा दी।

संवत् १९५३, ज्येष्ठ सुदी १४, रविवार को, सायला से लिखे अपने पत्र में श्री सोभागभाई श्रीमद् को लिखते हैं, "यह आखिरी पत्र लिख रहा हूं। ...ज्येष्ठ वदी ९, बुधवार के दिन, मृत्यु होने वाली है, इसका पहले से ही आभास हो गया था। ज्येष्ठ सुदी ९ तक * तो वह नहीं हुई। लेकिन मन को आभास होने वाली कोई बात गलत नहीं होनी चाहिए। फिर भी, वह तिथि गुजर चुकी है। ज्येष्ठ वदी ९ को बुधवार है। प्रायः उस दिन मृत्यु होगी। ...अब आप इस पामर सेवक पर पूर्ण रूप से कृपादृष्टि रखें। तथा देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं; देह जड़ है, आत्मा चेतन है। चेतन का भाग प्रत्यक्ष रूप से भिन्न समझ में नहीं आता था; लेकिन आठ दिन से, आपकी कृपा से अनुभव में आने के कारण, दोनों दो टूक दिखाई देने लगे हैं। तथा रात-दिन आपकी कृपा से चैतन्य और देह के भेद को समझना सहज हो गया है।... बिना पढ़े और बिना शास्त्रों के पठन-पठन के, थोड़े समय में ही

* गुजराती पंचांग के अनुसार, प्रत्येक महीना सुदी से शुरू होता है और उसके बाद वदी आती है। —अनुवादक

आपके उपदेश से अर्थ का स्पष्टीकरण हो गया है। जो बात २५ वर्ष में भी समझ में न आ सकी, वह आपकी कृपा से थोड़े समय में ही आ गयी है। ...मुझसे आपके प्रति यदि कोई अविनय अथवा अभक्ति हुई हो तो क्षमा माँगता हूँ। आप बड़े कृपालु हैं; इसलिए जैसे आप हैं, वैसी दृष्टि सेवक पर भी रखें।"

इसके उत्तर में श्रीमद् ने सोभागभाई को आत्मजागृति का वर्णन किया। फिर तदनुसार आत्मजागृति रहने के सम्बन्ध में श्री सोभागभाई ने श्रीमद् को लिखा। अपने अंतिम पत्र में श्रीमद् लिखते हैं, "सब जीवों के प्रति, सब भावों के प्रति, अखंड एकरस; वीतराग दशा रखना ही समस्त ज्ञान का फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्ममरण-रहित और निस्संग स्वरूप है। इसी में समस्त ज्ञान समा जाता है। उसकी प्रतीति में समस्त सम्यक् दर्शन आ जाता है। आत्मा का निस्संग स्वभाव दशा रहना, सम्यक् चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतराग दशा है—जिसके पूर्णता को पहुंचने पर, समस्त दुखों का नाश हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, तनिक भी सन्देह नहीं। यही प्रार्थना है।" त्रिलोक के तीन सर्वोत्कृष्ट रत्नों की कितनी अमूल्य भेंट!

मृत्यु के समय श्री सोभागभाई केवलज्ञान प्रकट होने के लिए अत्यन्त तीव्र, अखंड पुरुषार्थ में संलग्न रहे। ऐसे उत्कृष्ट पुरुषार्थपूर्वक, अपूर्व समाधि में, संवत् १९५३, ज्येष्ठ वदी १०, गुरुवार को प्रातः दस बजकर, पचास मिनिट पर, ७३ वर्ष की अवस्था में, सायला में, श्री सोभागभाई का देहावसान हुआ।

इस सम्बन्ध में श्रीमद् लिखते हैं, "आर्य श्री सोभागभाई के ज्येष्ठ वदी १०, गुरुवार को प्रातः दस बजकर, पचास मिनिट

पर देहावसान होने का समाचार पढ़कर बहुत खेद हुआ जैसे-जैसे उनके असाधारण गुणों की ओर दृष्टि जाती है, वैसे-वैसे अधिकाधिक खेद होता है।...श्री सोभाग ने इस प्रकार देह का त्याग करते हुए महान मुनियों को भी दुर्लभ ऐसी निःसंगतापूर्वक, निज उपयोगमय दशा रखते हुए अपना अपूर्व हित किया है-इसमें संशय नहीं।...इस क्षेत्र में, इस काल में श्री सोभाग जैसे पुरुष विरले ही होंगे-यह बारम्बार भासित होता है।...श्री सोभाग मुमुक्षुओं द्वारा विस्मरण करने योग्य नहीं है। ...श्री सोभाग की सरलता, उनका परमार्थ सम्बन्धी निश्चय और मुमुक्षुओं के प्रति उनका उपकारी भाव आदि गुणों का बारम्बार विचार करना चाहिए...आर्य सोभाग की अन्तरंग दशा और देह-मुक्त समय की दशा की, हे मुनियों! तुम्हें बारम्बार अनुप्रेक्षा करनी चाहिए।

श्री सोभाग को नमस्कार!

—श्रीमद् राजचन्द्र

सत्याभिलाषी

श्री जूठाभाई

श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

सत्याभिलाषी

श्री जूठाभाई

"अरे रे! इस काल में ऐसे धर्मात्मा का छोटा-सा जीवन होना, यह कुछ बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। इस काल में ऐसी पवित्र आत्मा रह ही कहाँ सकती है? दूसरे संगी-साथियों का ऐसा भाग्य ही कहाँ कि उन्हें ऐसी पवित्र आत्मा के दर्शन का लाभ अधिक समय तक मिले? मोक्षमार्ग प्रदान करने वाला सम्यक्त्व जिसके अन्तरंग में प्रकाशित हुआ था, ऐसे पवित्र आत्मा जूठाभाई को नमस्कार हो, नमस्कार हो!"

—श्रीमद् राजचन्द्र

इस प्रकार जिनके सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र ने उल्लेख किया है, वे महाभाग्यशाली, मुमुक्षुओं में श्रेष्ठ, अहमदाबाद के निवासी श्री जूठाभाई थे। श्री जूठाभाई का जन्म संवत् १९२३, कार्तिक सुदी २ के दिन हुआ था। उनके पिताजी का नाम उजमशीभाई और माता का जमनाबाई था। उनकी पत्नी का नाम उगरीबेन था। (श्री जूठाभाई शाह मल्लीचंद जयचंद के पौत्र थे)

वे साधारण पढ़े-लिखे थे। संवत् १९४४ में, अहमदाबाद में, श्री जूठाभाई को श्रीमद् राजचन्द्र के प्रथम दर्शन-समागम का लाभ प्राप्त हुआ। श्री जूठाभाई के बड़े भाई श्री जैसिंगभाई को उस समय पता चला कि श्रीमद् एक विद्वान महापुरुष हैं। श्री जैसिंगभाई को व्यापार के कारण बार-बार बाहर जाना पड़ता था जिससे उन्हें कम समय मिलता। इस कारण उन्होंने अपने छोटे भाई श्री जूठाभाई को श्रीमद् की सेवा में नियुक्त कर दिया।

इससे श्री जूठाभाई श्रीमद् के विशेष सम्पर्क में आये और पूर्व संस्कार के कारण वे उन्हें विशेष रूप से पहचान सके। श्रीमद् के प्रति उनका आदर-भाव बढ़ता गया।

श्री जूठाभाई को श्रीमद् के अन्तरंग गुणों की पहचान होने लगी। श्रीमद् के गुणों के प्रति उनका अनुराग बढ़ा।

संवत् १९४५ में श्रीमद् अहमदाबाद में श्री जूठाभाई के घर थोड़े समय रहे, तब जूठाभाई को उनके समागम का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ।

श्री जूठाभाई मोरबी में श्रीमद् के साथ डेढ़-दो महीने रहे और वहाँ उन्हें श्रीमद् के दर्शन-समागम का लाभ मिला। एक बार उनके साथ वे भड़ौंच भी गये।

सत्संग के निमित्त से दोनों में पत्र-व्यवहार भी हुआ। श्री जूठाभाई की तबीयत बहुत नरम रहती थी और साथ ही उनके अन्तरंग में वैराग्य की भावना बढ़ती जाती थी। वे भक्ति-प्रधान संस्कारी जीव थे।

उनका कुटुम्ब समाज और स्थानकवासी सम्प्रदायका अगुआ माना जाता था। श्रीमद् के प्रति भक्ति-भाव रखने के कारण श्री जूठाभाई को उनके प्रति अनुराग था, और यह बात उनके कुटुम्ब के लोगों को अच्छी नहीं लगी। श्रीमद् के सम्बन्ध में भी बहुत-सी बातें चल पड़ीं। उन्हें सुनकर श्री जूठाभाई के भक्त-हृदय को बहुत ठेस पहुँची। इस दुःख को सहन न कर सकने के कारण उन्होंने श्रीमद् को पत्र लिखा। श्रीमद् ने उसका उत्तर दिया, " ...आजकल इनके और इनके पक्ष के लोगों का जो विचार मेरे सम्बन्ध में चल रहा है, वह मेरे ध्यान में है। लेकिन उसे भूल जाना ही कल्याणकारी है। तुम भय न करना। मेरे सम्बन्ध में कोई कुछ

कहे, तो उसे सुनकर चुप रहना; कहनेवालों के सम्बन्ध में हर्ष-शोक न करना। जिस पुरुष पर तुम्हारा प्रशस्त प्रेम है, उसके इष्टदेव परमात्मा जिन महायोगीन्द्र पार्श्वनाथ आदि का स्मरण रखना और यथाशक्ति निर्मोही होकर मुक्त दशा की इच्छा करना।...जैसे भी बने, राग द्वेषरहित होना ही मेरा धर्म है और अब मैं उसका तुम्हें उपदेश देता हूँ।..." इस प्रकार आत्मजागृति को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने अनेक उपदेश लिखे। संवत् १९४५-४६ के दर्म्यान श्री जूठाभाई का शरीर अत्यन्त कमजोर हो गया था। परन्तु श्रीमद् के निकट परिचय में आकर सत्पुरुष के प्रति उनकी भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। तथा श्रीमद् ने जो पत्र उन्हें लिखे थे, वे आत्मा को निज स्वरूप में मग्न कर परमानन्द के प्रति प्रेरित करने वाले थे इसलिए वे बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। वे निरन्तर वैराग्यमय उदासीनता में ही समय बिताते।

श्रीमद् एक पत्र में उन्हें लिखते हैं, "...मुझपर अतिशय भावना रखकर आचरण करने की तुम्हारी इच्छा को मैं नहीं रोक सकता, किन्तु...मुझपर तुम्हारा प्रेम रहता है इसलिए तुमपर प्रेम रखने की मेरी इच्छा नहीं है। परन्तु तुम एक धर्मपात्र जीव हो और मुझे धर्मपात्र जीवों पर विशेष प्रेम करने की परम इच्छा है।...इस कारण किसी भी तरह तुम पर उस इच्छा का कुछ अंश रहता है,... निरन्तर समाधि-भाव में रहो,...अब देहदर्शन की ओर से ध्यान हटाकर आत्मदर्शन में स्थिर हो। पास ही हूँ, यह समझकर शोक कम करो, जरूर कम करो; जिन्दगी की संभाल रखो। अभी हाल में देह-त्याग का भय न समझो। जब ऐसा वक्त आयेगा और ज्ञानी को दिखाई देगा तो जरूर पहले से ही कोई कह देगा या वहाँ पहुँच आयेगा। अभी हाल में ऐसी कोई बात नहीं।"

श्रीमद् राजचन्द्र
२०२४
जन्म शताब्दी

श्रीमद् को श्री जूठाभाई की मरण-तिथि का दो महीने पहले ही पता लग गया था और इस बात को उन्होंने नोट करके रखा था।

श्री जूठाभाई के अंतरंग में, श्रीमद् के थोड़े समय के सम्पर्क तथा उनके उपदेश के प्रताप से, मोक्षमार्ग प्रदान करने वाले सम्यक्त्व का प्रकाश हुआ।

संवत् १९४६, आषाढ़ सुदी ९ के दिन श्री जूठाभाई केवल २३ वर्ष की अवस्था में समाधिस्थ हो, इस क्षणिक जीवन को त्याग कर चले गये। उनकी मृत्यु के समाचार पाकर श्रीमद् ने लिखा—

"...इस पावन आत्मा के गुणों का क्या स्मरण करूँ? जहाँ विस्मृति को अवकाश नहीं है, वहाँ स्मृति का होना कैसे माना जाये? देहधारी के रूप में इसका लौकिक नाम ही सत्य था। यह आत्म-दशा के रूप में सच्चा वैराग्य था। उसकी मिथ्या वासना अत्यन्त क्षीण हो गयी थी, वीतराग के प्रति उसका परम राग था, संसार के प्रति उसका परम जुगुप्साभाव था, और उसके अंतरंग में भक्ति की प्रधानता सदा प्रकाशमान रहती थी। सम्यक् भावपूर्वक वेदनीय कर्म का वेदन करने की जिसमें अद्भुत क्षमता थी, जिसके अन्तरंग में मोहनीय कर्म की प्रबलता अत्यन्त शून्य हो गयी थी, और जिसमें मुमुक्षु-भाव उत्तम प्रकार से दैदीप्यमान हो उठा था-ऐसे इस जूठाभाई की पवित्र आत्मा आज जगत् के इस भाग को छोड़कर चली गयी। अपने संगी-साथियों से वह मुक्त हो गई। धर्म के पूर्ण आह्लाद में आयु अचानक ही पूर्ण हो गई...।"

श्रीमद् राजचन्द्र

सत् आज्ञाकारी सेवक
श्री
अम्बालालभाई

सत् आज्ञाकारी सेवक

श्री अम्बालालभाई

संवत् १९४६ में, खंभात स्थानकवासी संघ के संघवी लालचंद वखतचंद नामक वकील के दत्तक-पुत्र श्री अम्बालालभाई, अपने मित्र श्री छोटालालभाई और श्री त्रिभोवनभाई के साथ, किसी विवाह के अवसर पर अहमदाबाद गये थे। वहाँ श्री जूठाभाई उजमशीभाई से उनकी भेंट हुई। श्री जूठाभाई से उन्हें पता लगा कि श्रीमद् राजचन्द्र नामक किसी आत्मज्ञानी पुरुष के साथ उनका परिचय है, और उनके उपदेश से कल्याण होने की संभावना है। श्री जूठाभाई ने श्रीमद् राजचन्द्र के लिखे हुए पत्रों को श्री अम्बालालभाई को दिखाया। तथा श्रीमद् की आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने श्री अम्बालालभाई को उनसे मिलने जाने के लिए कहा। श्री अम्बालालभाई खंभात आये: और श्रीमद् की अनुमति पाने के लिए उन्होंने उनसे पत्र-व्यवहार शुरू किया।

उनके कुछ पत्र पाने के बाद श्रीमद् ने उन्हें बम्बई आने की स्वीकृति दी। श्री अम्बालालभाई बम्बई आये और श्रीमद् के प्रथम दर्शन समागम का लाभ मिला। श्री अम्बालालभाई ने श्रीमद् को खंभात आने के लिए आमंत्रित किया।

संवत् १९४६ में श्रीमद् अपने पत्र में लिखते हैं, "...अहो! अनन्त भव के पर्यटन में किसी सत्पुरुष के प्रताप से इस दशा को प्राप्त ऐसे इस देहधारी को तुम चाहते हो और उससे धर्म की इच्छा करते हो, लेकिन वह तो अभी भी किसी आश्चर्यकारक उपाधि में पड़ा हुआ है।" ... "तुम्हें जो उसके प्रति इतनी अधिक श्रद्धा रहती है,

क्या उसका कोई मूल कारण ध्यान में है? कहीं इसके ऊपर की हुई श्रद्धा और उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म अनुभव करने पर अनर्थकारक तो न लगने लगेगा? अर्थात् उसे अभी पूरी तरह से कसौटी पर कसना और इसके लिए वह राजी है...।"

"...तीर्थंकर देव ने राग करने का निषेध किया है। अर्थात् जब तक राग है, तब तक मोक्ष नहीं। तो फिर इस पुरुष के प्रति राग करना तुम सबको कहाँ तक कल्याणकारी हो सकेगा?"

संवत् १९४६, आसो महीने में, श्रीमद् श्री अम्बालालभाई के घर खंभात आये। श्री अम्बालालभाई श्रीमद् से २ वर्ष छोटे थे। वे पूर्वजन्म के संस्कारी, उत्तम क्षयोपशम से युक्त, सेवाभावी और एकनिष्ठ भक्ति-भावी थे। संवत् १९४६ के समागम के बाद उनका जीवन श्रीमद्‌रूप ही हो गया। उनका पत्र-व्यवहार निरन्तर चलता रहता।

संवत् १९४७ में श्रीमद् एक पत्र में लिखते हैं, "...'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है। वह सरल है, सुगम है और सर्वत्र उसकी प्राप्ति हो सकती है। किन्तु जिसे भ्रांति रूप आवरणतम छाया हुआ है, उसे उसकी कैसे प्राप्ति हो? अंधकार के हम कितने ही भेद क्यों न करें, लेकिन उनमें कोई ऐसा भेद नहीं हो सकता जिसे प्रकाश-रूप कहा जा सके। इसी प्रकार जो आवरणतम से घिरा है, ऐसे प्राणी की कोई भी कल्पना 'सत्' नहीं मालूम होती, और 'सत्' के पास भी नहीं आ सकती, ...इसलिए जिसने उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय किया है, 'वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता' ऐसा पहले उसे दृढ़ निश्चय पूर्वक विचार करना चाहिए और फिर सत् की प्राप्ति के लिए ज्ञानी की शरण जाना चाहिए। इससे अवश्य ही मार्ग की प्राप्ति होगी।"

इस प्रकार, श्रीमद् की आज्ञानुसार उन्होंने आजीवन आचरण कर अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाया। वे हर बात को श्रीमद् से पूछते और फिर उनकी आज्ञानुसार चलते।

संवत् १९४७ में श्रीमद् एक पत्र में लिखते हैं, "गुरु के द्वारा जब तक भक्ति का परम स्वरूप समझ में नहीं आता और उसकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक भक्ति का आचरण करने से अकाल और अशुचि दोष होता है। अकाल और अशुचि का महान् विस्तार है, फिर भी संक्षेप में लिखा है। एकान्त प्रभात का प्रथम प्रहर सेव्य भक्ति के योग्य समय है। स्वरूप-चिन्तन भक्ति तो सभी कालों में सेव्य है। व्यवस्थित मन समस्त शुचि का कारण है। बाह्य मल आदि से रहित शरीर और शुद्ध स्पष्ट वाणी को ही शुचि कहते हैं।"

श्रीमद् जब चरोतर पधारे, तो अम्बालालभाई उनके साथ रहते हुए उनकी सारी व्यवस्था करते। श्रीमद् की ही नहीं, बल्कि वहाँ जो और भी मुमुक्षु आते, उनकी भी वे तन-मन-धन से सेवा करते। श्रीमद् जो उपदेश देते, उसे आठ दिन बाद भी वे अक्षरशः लिख सकते थे। उनकी इस धारणाशक्ति की श्रीमद् ने प्रशंसा की थी।

संवत् १९४९ में श्रीमद् अपने पत्र में लिखते हैं, "इस आत्मा को पूर्व में अनंतकाल व्यतीत करने पर भी जान न पाये। इससे मालूम होता है कि जानने का यह कार्य सबसे विकट है; अथवा उसे जानने का तथारूप योग मिलना परम दुर्लभ है।...ऐसा होने पर भी जिस रूप में वह स्वयं है, उस रूप का निरन्तर विस्मरण चला आता है।...यह बात अनेकानेक प्रकार से विचार करने योग्य है, और उसका उपाय भी अनेक प्रकार से विचारणीय है।"

संवत् १९५२ में श्रीमद् ने काविठा, राळज, वडवा, खंभात, आनन्द, नादियाड़ इत्यादि स्थानों में जो उपदेश दिये, वे 'उपदेश

काया' नाम से श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत में प्रकाशित हुए हैं। श्री अम्बालालभाई की डायरी में से ही ये लिखे गये हैं।

संवत् १९५० में श्रीमद् अपने पत्र में लिखते हैं, "सत्पुरुष के मिलने पर, 'यह सत्पुरुष है'–यह जानने के बाद, सत्पुरुष को जानने के पहले, जो यह आत्मा पांच इंद्रिय सम्बन्धी विषयों में आसक्त रहती थी, वैसी अब नहीं रहती, और अनुक्रम से जिससे वह आसक्ति-भाव शिथिल हो जाय, ऐसे वैराग्य को प्राप्त करती है। अथवा सत्पुरुष का संयोग होने के बाद आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नहीं रह जाता। फिर भी जब तक सत्पुरुष में, उसके वचनों में और उसके वचनों के आशय में, प्रीति-भक्ति न हो, तब तक जीव में आत्म-विचार का भी उदय नहीं होता। तथा जीव को सत्पुरुष का संयोग मिला है, यह बात ठीक-ठीक उसे भासित हुई है, यह कहना भी कठिन है...।"

संवत् १९५१ में श्रीमद् एक पत्र में लिखते हैं, "श्री तीर्थंकर आदि ने पुनः पुनः जीवों को उपदेश दिया है, लेकिन फिर भी जीव दिशामूढ़ ही रहना चाहता है–इसका कोई उपाय नहीं। फिर-फिर से ठोक-बजाकर कहा गया है कि जीव यदि इसी एक बात को समझ ले तो सहज मोक्ष हो जाये, नहीं तो अनन्त उपायों से भी मोक्ष नहीं। और यह समझना भी कुछ कठिन नहीं है। क्योंकि जीव का जो सहज स्वरूप है, केवल उसे ही समझना है। यह कोई किसी दूसरे के स्वरूप को समझने की बात नहीं कि कभी वह उसे छिपा ले, अथवा न बताये और इससे वह समझ में न आये। अपने आपको गुप्त रखना कैसे संभव है? लेकिन स्वप्न दशा में जैसे असंभाव्य अपनी मृत्यु को भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योग से यह जीव पर द्रव्य को अपना मान रहा है। और यह मान्यता ही संसार है;

यही अज्ञान है; नरक आदि गति का हेतु भी यही है। यही जन्म है, यही मरण है, यही देह है, देह का विकार है। यही पुत्र है, यही पिता है, यही शत्रु है और यही मित्र आदि भावों की कल्पना का हेतु है। और उससे निवृत्ति हो जाना ही सहज मोक्ष है। इसी निवृत्ति के लिए सत्संग और सत्पुरुष आदि साधन बताये गये हैं, और यदि इन साधनों में जीव, अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना आचरण करे, तो ही वह सिद्ध है। अधिक क्या कहें? यदि इतनी ही संक्षिप्त बात जीव में परिणमन को प्राप्त कर सके तो समस्त व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्र, ज्ञान आदि सब प्राप्त कर लिया इसमें कोई भी सन्देह नहीं।"

संवत् १९५२, आसो वदी १ के दिन, संध्या समय, श्रीमद् ने घूमकर आने के बाद 'आत्मसिद्धि' लिखना आरंभ किया। धाराप्रवाह रूप में उन्होंने डेढ़ से दो घंटे के भीतर १४२ गाथाएं पूरी कर डालीं। इस समय श्री अम्बालालभाई एक तरफ दीपस्तंभ की भांति हाथ में दीपक ले खड़े रहे, और इस ज्ञानरूपी गंगा के अवतरण को ध्यान से देखते रहे। इसकी चार नकल की गयीं और श्रीमद् ने उन्हें योग्य व्यक्तियों को भेजने के लिए श्री अम्बालालभाई से कहा।

जहाँ भी श्रीमद् के पत्र थे, वहाँ से उन्हें मंगाकर श्रीमद् की आज्ञा से, श्री अम्बालालभाई ने उनकी नकल करने का काम शुरू किया। अम्बालालभाई इन पत्रों की नकल करते और श्रीमद् जिस किसी मुमुक्षु को भेजने के लिए कहते, उसे भेज देते। इसके बाद श्रीमद् संस्कृत, मागधी, हिन्दी और गुजराती की आवश्यक पुस्तकों की नकल करने के लिए श्री अम्बालालभाई के पास भेजते और वे तदनुसार उन पुस्तकों की नकल करके श्रीमद् की आज्ञानुसार

मुमुक्षुओं को पढ़ने के लिए भेज देते। मतलब यह है कि श्री अम्बालालभाई एक अत्यन्त कार्य-कुशल आज्ञाकारी और आत्मस्वरूप का लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति थे। श्रीमद् अनेक कठिनाइयों के बीच थोड़े समय में जो धर्म की प्रभावना कर सके, उसमें श्री अम्बालालभाई का बड़ा हाथ था।

संवत् १९५५ में ईडर के पहाड़ पर श्रीमद् ने मुनियों को सम्बोधित कर कहा था, "हे मुनियो, जीव की वृत्ति तीव्रता के कारण भी नरम पड़ जाती है। अम्बालालभाई की वृत्ति और दशा प्रथम भक्ति और वैराग्य आदि कारणों से उच्च होने के कारण, उन्हें इतनी लब्धि प्रकट हो गई थी कि हम जो कभी ३-४ घंटे उपदेश देते और उसे दूसरे या तीसरे दिन लिखकर लाने के लिए कहते तो उस उपदेश को श्री अम्बालालभाई सम्पूर्ण रूप से हमारे ही शब्दों में लिखकर ले आते। अभी हाल में प्रमाद और लोभ आदि के कारण वृत्ति शिथिल हो गई है और उसमें यह दोष दिखाई देगा, इस बात को हम बारह महीने पहले से ही जानते थे। श्री लघुराज स्वामी को यह सुनकर खेद हुआ। उन्होंने श्रीमद् से पूछा, "क्या यह वृत्ति इसी प्रकार से रहेगी?" श्रीमद् ने उत्तर दिया, "मुनि, खेद खिन्न न होना। जैसे नदी के प्रवाह में बहता हुआ पत्ता रास्ते में किसी झाड़ी के आ जाने से थोड़ी देर के लिए अटक जाता है, लेकिन फिर से नदी के प्रवाह में बहकर उस झाड़ी से अलग होकर महासमुद्र में जा मिलता है, उसी प्रकार उस वृत्ति का प्रमाद हमारे द्वारा दूर होगा और वे परम पद को प्राप्त करेंगे...।"

अहा! महापुरुषों की कितनी अद्‌भुत करुणा है!

संवत् १९५७ में श्रीमद् जब अपनी मातुश्री और पत्नी के साथ अहमदाबाद, आगाखां के बंगले में पधारे तो उस समय मुनिगण

खरसपुर के उपाश्रय में विराजते थे। रात्रि के १२ बजे के बाद श्री अम्बालालभाईको मुनियों के पास जाने की आज्ञा हुई और अकेले जाकर उन्होंने उनसे बातचीत की। "आज मुझपर परम-गुरु ने अपूर्व कृपा की है। मेरे प्रमाद को आज उन्होंने नष्ट कर दिया है। जागृति उत्पन्न करा-कर मूल मार्ग के सम्बन्ध में व्यवहार और परमार्थ-दोनों का स्वरूप उन्होंने आज एक अलौकिक रूप से मुझे समझाया। परमार्थ की पुष्टि करने वाले सद्व्यवहार का स्वरूप भी समझाकर कहा," ...इस प्रकार प्रातःकाल तक वार्तालाप करने के पश्चात् श्री अम्बालालभाई श्रीमद् के पास लौट गये।

संवत् १९५७, माघ-फाल्गुन महीने में श्री अम्बालालभाई वढ़वाण में श्रीमद् की सेवा में एक महीने तक रहे। श्रीमद् ने जब उन्हें जाने की आज्ञा दी तो उसे शिरोधार्य करके वे खंभात चले गये।

संवत् १९५७, चैत्र वदी ५, मंगलवार के दिन राजकोट में श्रीमद् राजचन्द्रजी के देहावसान का समाचार सुनकर श्री अम्बालालभाई को अत्यन्त आघात और शोक हुआ। समाचार सुनते ही रो पड़े। आइए, इस अत्यन्त शोकतप्त भक्त-हृदय को अन्तर्चक्षुओं से देखें। वे लिखते हैं—

"जैसे किसी विशाल अरण्य में अत्यन्त सुन्दर और शान्ति देने वाला कोई वृक्ष हो; इस वृक्ष पर निःशंक, शांत और कोमल भाव से सुख और आनन्दपूर्वक पक्षी चहचहाते हों, और यदि वह वृक्ष अचानक ही जंगल की आग से प्रज्वलित हो उठे तो उस समय उस वृक्ष के कारण आनन्द प्राप्त करने वाले पक्षियों का क्या हाल होगा? क्या उन्हें क्षणभर के लिए भी शान्ति मिल सकेगी? अहाहा! उस समय के दुःख का वर्णन करने के लिए बड़े-बड़े कविराज भी असमर्थ

हैं; उसी प्रकार का अपार दुख इस घोर अटवी में इस पामर जीव को देकर, हे प्रभो, आप कहाँ चले गये ?"

"हे भारत भूमि! क्या देह होने पर भी विदेह रूप से विचरण करते हुए प्रभु का भार तुझसे सहन न हो सका ? यदि ऐसी ही बात थी तो तुझे इस पामर का भार पहले ही हल्का कर देना चाहिए था। वह तो व्यर्थ ही तेरी पृथ्वी के ऊपर बोझ बना हुआ है...।"

"हे महाविकराल काल, तुझे जरा भी दया न आई ? छप्पनिया के महादुष्काल के समय तूने लाखों की बलि ले ली, फिर भी तेरी तृप्ति न हुई! और यदि तेरी तृप्ति न हो सकी थी तो फिर पहले इसी देह को तुझे अपना भक्ष्य बनाना चाहिए था। तूने तो परम शान्त प्रभु का जन्म-जन्मांतर का वियोग करा दिया! यदि तुझे अपनी निर्दयता और कठोरता ही दिखानी थी तो उसे मेरे लिए दिखाना चाहिए था! तू यह हँसता हुआ मेरे सामने यह क्या देख रहा है ? ..."

"हे शासन देवी, इस समय काल के सामने तुम्हारी शक्ति कहाँ चली गई ? प्रभु तो तुम्हारे शासनोन्नति की सेवा करने में सबसे आगे रहे। तुम तो मन-वचन-काय से नमस्कार कर उसकी सेवा में उपस्थित रहती थी, फिर इस समय तुम क्यों ऐसी सुख की नींद सो गई कि जब महाकाल ने अपना काम प्रारंभ किया तो तुम्हारे मन में कोई विचार तक नहीं उठा ? ..."

"हे प्रभु! तुम्हारे बिना अब हम किसके पास जायें और कहाँ जाकर फरियाद करें ? जब तुम्हीं इतने निर्दय बन गये तो फिर दूसरा और कौन दया-भाव दिखला सकता है ? हे प्रभु, तुम्हारी परम कृपा,

अनन्त दया, करुणामय हृदय, कोमल वाणी, चित्त आकर्षक शक्ति, वैराग्य की तीव्रता बोध बीज की अपूर्वता, परमार्थ क्रीडा, अपार शान्ति, निष्काम करुणा, निस्वार्थ उपदेश, सत्संग की अपूर्वता, इत्यादि आपके उत्तमोत्तम गुणों का मैं क्या स्मरण करूं ! विद्वान् कवियों और राजेंद्र देव भी आपके गुणों का स्तवन करने में असमर्थ हैं, फिर इस लेखनी में थोड़ी भी सामर्थ्य कहाँ से आवे ? आपके परमोत्कृष्ट गुणों का स्मरण करने से अपने शुद्ध अन्तःकरण से मन-वचन-काय पूर्वक मैं आपके पवित्र चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ। आपका योगबल और आपके द्वारा प्रकाशित वचन और आपका दिया हुआ बोधबीज मेरा रक्षण करे...यही सदा अभिलाषा है। आपने हमेशा के लिए वियोग की यह स्मरणमाला प्रदान की है; उसे अब मैं विस्मृत न करूँ।..."

"खेद, खेद और खेद-इसके सिवाय और कुछ भी नहीं सूझता। रात और दिन रो-रोकर बिताता हूँ। कुछ भी सूझता नहीं।"

अहा ! यह विरह-वेदना तो ऐसी है मानों राम का बाण लगा हो !

संवत् १९४८ में श्रीमद् लघुराज स्वामी ने दक्षिण हिन्दुस्तान में करमाला गांव में चौमासा व्यतीत किया। श्री अम्बालालभाई मुनिश्री के दर्शन समागम के लिए करमाला गये। मुनिश्री के साथ वे पत्रव्यवहार करते रहे। मुनिश्री ने संवत् १९६० का चौमासा धंधुका में बिताया। वहाँ श्री अम्बालालभाई तथा अन्य मुमुक्षु, पर्यूषण के लिए इकट्ठे हुए और उन्होंने लगभग १५ दिन भक्ति भजन में व्यतीत किये। उसके बाद मुनिश्री खंभात पधारे।

वहाँ श्री अम्बालालभाई का समागम हुआ। लेकिन खंभात में प्लेग फैला हुआ था, इसलिए दोनों ने विचार किया कि थोड़े दिन के लिए वटामण जाकर, श्रीमद् राजचंद्र के समागम से जो बोध मिला है, उसके सम्बन्ध में विचार-विनिमय करें। तदनुसार मुनिश्री वटामण गये। वहाँ श्री अम्बालालभाई का समाचार मिला कि वे अमुक दिन वहाँ पहुंचेंगे...अन्त में प्लेग हो जाने के कारण श्री अम्बालालभाई अन्य दो मुमुक्षुओं के साथ, समाधिपूर्वक, संवत् १९६३, चैत्र वदी १२ के दिन खंभात में, केवल ३० वर्ष की अवस्था में परलोक सिधार गये।

श्री अम्बालालभाई का जीवन हमें सत्पुरुष की सच्ची सेवा और उनकी आज्ञा में रहने के लिए प्रेरित करता है।

धन्य है, इस काल में ऐसे आज्ञाकारी भक्तजनों को।

श्रीमद् राजचन्द्राय नमः

ॐ

तत् सत्

श्री सद्गुरु चरणाभ्याम् नमः

श्री सौभाग्य तत्व गीता

सद्गुरु कृपा से गाइये मिल भक्त, गुरु महिमा सदा,
सौभाग्य गीता से बढ़े आनन्दरूपी सम्पदा;
श्री 'सायला' पुर में रहें 'सौभाग्य' भक्त शिरोमणी,
हो मुक्ति वैभव लाभ यह इच्छा रहे मन में बनी ॥ १ ॥

अगणित भवों के पुण्य से, गुरुराज के दर्शन हुए,
करके विनम्र प्रणाम, उनके अंग सब पुलकित हुए;
ज्यों वीर प्रभु से प्रश्न करते थे, सतत गौतम गणी,
ज्यों वीर अर्जुन प्रश्नवश श्रीकृष्ण से गीता बनी ॥ २ ॥

श्रीरामने निजगुरु वसिष्ठ ऋषीश को पूछा यथा
सौभाग्य ने अध्यात्म योगी 'राज' को पूछा तथा
हे! हे!! त्रिलोकीनाथ, हमको मुक्तिपथ बतलाइये
तन और चेतन एकता की भ्रांति दूर कराइये ॥ ३ ॥

जो शान्त मन करता ग्रहण इन राज गुरु की बात को
अज्ञान-रात बिता वही देखे विमल सुप्रभात को
तौला उन्होंने मार्ग को निज ज्ञान से इस काल में;
लेके शरण मानव परम, आश्चर्ययुत हैं हाल में; ॥ ४ ॥

जड़ और चेतन योग से यह जग अनादि अनन्त है,
पहचान अपना रूप तू, सौभाग्य शोभावन्त है
अमरत्वदायक आत्मसिद्धि में विशद विस्तार है;
जो मानता इस बात को उसका निकट उद्धार है ॥ ५ ॥

की पूर्व में आराधना श्री वीर जिन भगवान की,
पा मुक्ति का शुभ मंत्र गुरु ने बुद्धि की निजज्ञान की,
धर जन्म दिव्य 'ववाणिया' में कर्म वे हरते हुए,
सद्धर्म का उद्धार कर उपदेश शुभ करते हुए ॥ ६ ॥

थी चित्तमें निर्ग्रन्थता, बाहर वणिक का वेश था,
रहकर उसी में दे दिया जो सन्त का उपदेश था,
आन्तरदशा प्रभु की जगत को सर्वथा अज्ञात थी,
इस जौहरी के वेश में कोई अलोकिक बात थी ॥ ७ ॥

बम्बई नगर में रह न केवल रत्न का व्यापार है
जाना नहीं जगने उन्हें, शुद्धात्म का आधार है;
निज आत्म परिणति के लिये गुरुराज वन में भी रहे,
उपसर्ग, कष्ट अनेक वनके क्षोभविन सुख से सहे ॥ ८ ॥

मिलता रहा सत्संग का शुभलाभ मानव वृन्द को
कर दूर शंकायें प्रगट करते रहे सुख चन्द्र को,
अनुभव सहित उनने बताया, ज्ञान के सद्अर्थ को,
बम्बई निवासी मुग्ध थे अवलोक कर सामर्थ को ॥ ९ ॥

वयवृद्ध मैंने जब लखा श्री राज ज्ञान समृद्ध को
तब शीघ्र स्वीकृत कर लिया, सम्मुक्ति मार्ग विशुद्ध को
परिपूर्ण करने भक्त इच्छा, स्वर्ग का अमृत दिया
वह नर अमर जग में हुआ पान निर्भय हो किया ॥ १० ॥

सत्याभिलाषी भाई जूठा को बता सद्धर्म को
उपदेश में समझा दिया अनुपम जिनागम मर्म को,
निजभक्त अम्बालाल को, दे दान सम्यग्ज्ञान का;
हटवा दिया था आवरण, तत्काल मिथ्याज्ञान का ॥ ११ ॥

श्रद्धालु मुनि लघुराजने जिस काल जाना आपको;
वन्दन किया विधि युक्त, तज संकोच के सन्ताप को;
तज मोह और ममत्व मनका आपको अपना लिया,
तन, मन, वचन सर्वस्व ही गुरु को समर्पण कर दिया ॥ १२ ॥

लघुराज को बतला दिया सत्मर्म श्रद्धा, भक्ति का
सत्संग में सबको पिलाया ज्ञान-रस निज शक्ति का,
गुरुराज की वचनावली अध्यात्म प्रेरक ही रही
सन्मुक्ति का उपदेश उसमें आज भी दिखता सही ॥ १३ ॥

ईडर में गुरु ने बतलाया पूर्वजन्म अपना सुस्थान,
भाग्यवान् सब बने साधुगण करके ज्ञान भक्तिरस पान
राजनगर में श्री लघुमुनि को, समझाया निज दिव्य स्वरूप,
निज भक्तों को शीघ्र बताया, कर्म भेद का भेद अनूप ॥ १४ ॥

ज्ञान दशा की अद्भुत लीला राजगुरु की देखी सर्व,
उतर गया क्षणभर में मेरा, साधुपना का सारा गर्व;
उनकी आत्मदशा को कैसे समझे बाह्य दृष्टि संसार
सदा तीव्र वैराग्य चित्तमें रहे निरन्तर आत्म विचार; ॥ १५ ॥

प्रभु सर्व व्यापक ज्ञायक हैं निराकार, निर्मल, निर्दोष,
स्वयं ज्योति है विश्व प्रकाशक, अविनाशी, अनुपम गुण कोष;
राज स्वयं परमात्मरूप हैं मुक्तिरूप हैं, शुद्ध स्वरूप
सत्य और आनन्द मूर्ति हैं, पतितोद्धारक, गुण के कूप ॥ १६ ॥

ज्ञानदायिनी आत्मसिद्धि तो अमर रहेगी तीनों काल,
स्मरण राज भक्तों का करके होगा मानव हृदय विशाल;
वीर और श्रीराम तुल्य ही किया कार्य हो निज में लीन,
सफल किया है सन्त सुजीवन करके महामोहको क्षीण ॥ १७ ॥

कलियुग के केवली कहलाये, वर्तमान के अनुपम वीर,
प्राप्त किया है मुक्ति मार्ग को वन्दन बार बार गंभीर
संवत् उन्नीससौ सत्तावन कृष्ण पंचमी चैत्र सुमास
राजकोट में मंगल के दिन, छोड़ दिया निज देह निवास ॥ १८ ॥

गुरु और गुरु-भक्तों के गुण गाने की इच्छा सद्भक्ति,
क्या मैं करूँ प्रशंसा उनकी, तुच्छ लेखनी में क्या शक्ति?
फिर भी भाव विवश लिख डाला, मिला मुझे इससे आनन्द,
भक्ति, प्रेम से गुरु को भजते, मिट जाते सारे दुख द्वन्द ॥ १९ ॥

लेखक—प्रकाशक

पद्यानुवादक :—पं. गुणभद्र जैन कविरत्न
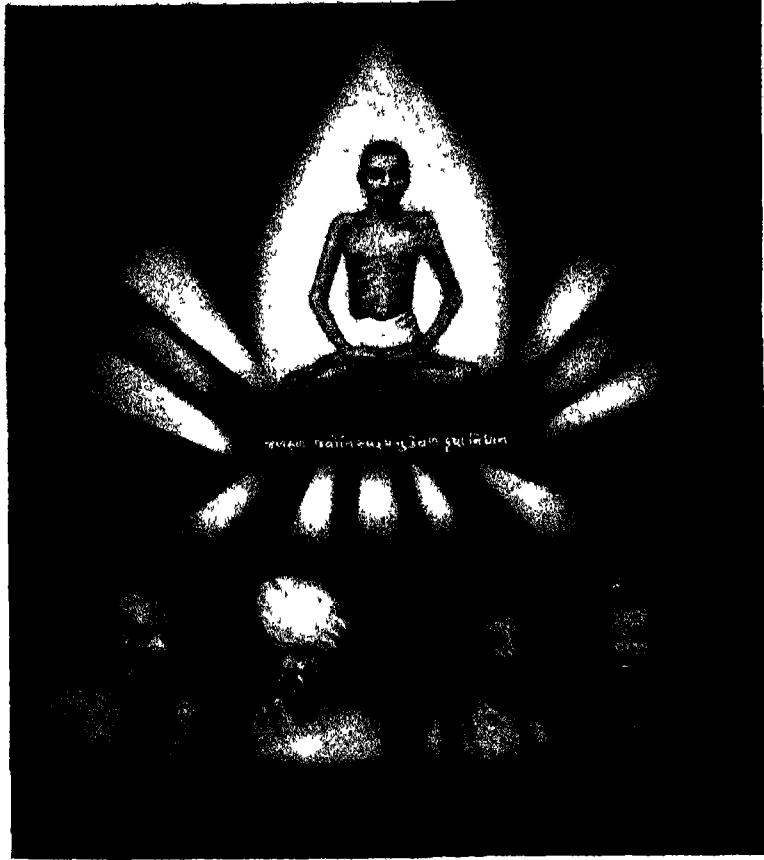
लघुराज, श्री सौभाग्य, जूठाभाई और अम्बालाल,
चारों ने पाया 'राजयोग' से आत्मज्ञान रसात जो,
पाई कृपा, सत्पात्रता, पुरुषार्थ प्रेम अनन्य औ,
बनी स्वपर श्रेयस्कर, समाधि श्रेष्ठ पाई धन्य थे।

अनन्य शरण के देनेवाले श्री सद्गुरुदेव को
अत्यंत भक्ति से नमस्कार हो।

जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वरूप को पा लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों ने नीचे कहे हुए छह पदों को सम्यग्दर्शन के निवास का सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहा है :—

प्रथम पद : 'आत्मा है।' जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं वैसे ही आत्मा भी है। अमुक गुणों के होने के कारण जैसे घट, पट आदि के होने का प्रमाण मिलता है, वैसे ही जिसमें स्व–पर–प्रकाशक चैतन्य सत्ता का प्रत्यक्ष गुण मौजूद है, ऐसी आत्मा के होने का भी प्रमाण मिलता है।

दूसरा पद : 'आत्मा नित्य है।' घट, पट आदि पदार्थ अमुक काल तक ही रहते हैं। आत्मा त्रिकालवर्ती है। घट, पट आदि संयोगजन्य पदार्थ हैं। आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के लिए कोई भी संयोग अनुभव में नहीं आता। किसी भी संयोगी द्रव्य से चेतन सत्ता प्रगट होने योग्य नहीं है, इसलिए वह अनुत्पन्न है। वह असंयोगी होने से अविनाशी है, क्योंकि जिसकी किसी संयोग से उत्पत्ति नहीं होती, उसका किसी में नाश भी नहीं होता।

तीसरा पद : 'आत्मा कर्त्ता है।' सब पदार्थ अर्थ–क्रिया से संपन्न हैं। सभी पदार्थों में कुछ न कुछ क्रिया सहित परिणाम देखने में आता है। आत्मा भी क्रिया–सम्पन्न है। क्रिया सम्पन्न होने के कारण वह कर्त्ता है। श्री जिन भगवान ने इस कर्त्तापने का तीन प्रकार से विवेचन किया है :—परमार्थ से आत्मा स्वभाव–परिणति से निज स्वरूप का कर्त्ता है। अनुपचरित (अनुभव में आने योग्य–विशेष सम्बन्ध सहित) व्यवहार से आत्मा द्रव्य कर्म का कर्त्ता है। उपचार से आत्मा घर, नगर आदि का कर्त्ता है।

चौथा पद : 'आत्मा भोक्ता है।' जो जो कुछ क्रियायें होती हैं, वे सब किसी प्रयोजनपूर्वक ही होती हैं—निरर्थक नहीं होती। जो कुछ भी किया जाता है उसका फल अवश्य भोगने में आता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। जिस तरह विष खाने से विष का

फल, मिश्री खाने से मिश्री का फल, अग्नि के स्पर्श करने से अग्नि-स्पर्श का फल, हिम के स्पर्श करने से हिम-स्पर्श का फल मिले बिना नहीं रहता, उसी तरह कषाय आदि अथवा अकषाय आदि जिस किसी परिणाम से भी आत्मा प्रवृत्ति करती है, उसका फल भी मिलना योग्य ही है, और वह मिलता है। उस क्रिया का कर्त्ता होने से आत्मा भोक्ता है।

पाँचवाँ पद : 'मोक्षपद है।' जिस अनुपचरित व्यवहार से जीव के कर्म का कर्त्तृत्व निरूपण किया और कर्त्तृत्व होने से भोक्तृत्व निरूपण किया, वह कर्म दूर भी अवश्य होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष कषाय आदि की तीव्रता होने पर भी उसके अनभ्यास से-अपरिचय से-उसके उपशम करने से,-उसकी मंदता दिखाई देती है-वह क्षीण होने योग्य मालूम होता है-क्षीण हो सकता है। उस सब बंध-भाव के क्षीण हो सकने योग्य होने से उस से रहित जो शुद्ध आत्म स्वभाव है, वह रूप मोक्ष पद है।

छठा पद : 'उस मोक्ष का उपाय है।' यदि कचित् ऐसा हो कि हमेशा कर्मों का बंध ही बन्ध हुआ करे, तो उसकी निवृत्ति कभी भी नहीं हो सकती। परन्तु कर्मबन्ध से विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं; जिस साधन के बल से कर्म-बन्ध शिथिल होता है-उपशम होता है-क्षीण होता है; इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्ष-पद के उपाय हैं।

श्री ज्ञानी पुरुषों द्वारा सम्यग्दर्शन के मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छह पदों को यहाँ संक्षेप में कहा है। समीप मुक्तिगामी जीव को स्वाभाविक विचार में ये पद सप्रमाण होने योग्य हैं-परम निश्चयरूप जानने योग्य है, उसकी आत्मा में उनका सम्पूर्ण रूप से विस्तार सहित विवेक होना योग्य है। ये छह पद संदेह रहित हैं, ऐसा परम पुरुष ने निरूपण किया है। इन छह पदों का विवेक जीव को निजस्वरूप समझने के लिए कहा है। अनादि स्वप्न-दशा के कारण उत्पन्न हुए जीव के अहंभाव-ममत्वभाव को दूर करने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने इन छह पदों की देशना प्रकाशित की है। एक केवल अपना ही स्वरूप उस स्वप्नदशा से रहित है, यदि जीव ऐसा विचार करे तो वह सहज मात्र में जागृत होकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो, सम्यग्दर्शन को प्राप्त होकर निज स्वभावरूप मोक्ष

को प्राप्त करे। उसे किसी विनाशी, अशुद्ध और अन्यभाव में हर्ष, शोक और संयोग उत्पन्न न हो, उस विचार से निजस्वरूप में ही निरन्तर शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशीपना, अत्यन्त आनन्दपना उसके अनुभव में आता है। समस्त विभाव पर्यायों में केवल अपने ही अध्यास से एकता हुई है, उससे अपनी सर्वथा भिन्नता ही है, यह उसे स्पष्ट–प्रत्यक्ष–अत्यन्त प्रत्यक्ष–अपरोक्ष अनुभव होता है। विनाशी अथवा अन्य पदार्थ के संयोग में उसे इष्ट अनिष्ट भाव प्राप्त नहीं होता। जन्म, जरा, मरण, रोग आदि की बाधा रहित, सम्पूर्ण माहात्म्य के स्थान ऐसे निजस्वरूप को जानकर अनुभव करके वह कृतार्थ होता है। जिन जिन पुरुषों को इन छह पदों के प्रमाणभूत ऐसे परम पुरुष के वचन से आत्मा का निश्चय हुआ है, उन सब पुरुषों ने सर्व स्वरूप को पा लिया है। वे आधि, व्याधि, उपाधि और सर्वसंग से रहित हो गये हैं, होते हैं, और भविष्य में भी वैसे ही होंगे।

जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा और मरण का नाश करनेवाला, निज स्वरूप में सहज–अवस्थान होने का उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषों को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा से नित्य प्रति निरन्तर स्तवन करने से भी आत्म–स्वभाव प्रगटित होता है। ऐसे सब सत्पुरुष और उनके चरणारविन्द सदा ही हृदय में स्थापित रहो!

जिसके वचन अंगीकार करने पर, छह पदों से सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहज में ही प्रगटित होता है, जिस आत्म–स्वरूप के प्रगट होने से सर्वकाल में जीव सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उस वचन के कहनेवाले ऐसे सत्पुरुष के गुणों की व्याख्या करने की हममें असामर्थ्य ही है। क्योंकि जिसका कोई भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता ऐसे परमात्मभाव को, उसने किसी भी इच्छा के बिना, केवल निष्कारण करुणा से ही प्रदान किया है। तथा ऐसा होने पर भी जिसने दूसरे जीव को 'यह मेरा शिष्य है अथवा मेरी भक्ति करने वाला है, इसलिये मेरा है।' इस तरह कभी भी नहीं देखा–ऐसे सत्पुरुष को अत्यन्त भक्ति से फिर फिर से नमस्कार हो!

जिन सत्पुरुषों ने जो सद्गुरु की भक्ति निरूपण की है, वह भक्ति केवल शिष्य के कल्याण के लिये ही कही है। जिस भक्ति के प्राप्त होने से सद्गुरु को आत्मा की

चेष्टा में वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद दूर हो, और सहज में आत्म-बोध हो, यह समझकर जिसने भक्ति का निरूपण किया है, उस भक्ति को और उन सत्पुरुषों को फिर फिर से त्रिकाल नमस्कार हो !

यद्यपि कभी प्रगटरूप से वर्तमान में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके वचन के विचार योग से केवलज्ञान शक्तिरूप से मौजूद है, यह स्पष्ट जान लिया है-इस प्रकार श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है विचार-दशा से केवलज्ञान हुआ है-इच्छा-दशा से केवलज्ञान हुआ है-मुख्य नय के हेतु से केवलज्ञान रहता है जिसके संयोग से जीव सर्व अव्याबाध सुख के प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञान को, सहज मात्र में पाने के योग्य हुआ है, उस सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! !

—श्रीमद् राजचन्द्र

(यह छह पद का पत्र है। देखें पृष्ठ ३१ पंक्ति १५ के सन्दर्भ में)

"हजारों उपदेश वचन और उक्तियां सुनने की अपेक्षा, उनमें से थोड़े वचनों का विचार करना भी विशेष कल्याणकारी है। पठन की अपेक्षा मनन की ओर विशेष ध्यान देना।

छह खंड का भोक्ता राजपाट छोड़कर चला गया और मै अल्प व्यवहार में ही बड़प्पन और अहंकार मान कर बैठा हूँ—ऐसा विचार क्यों नहीं आता ?

इंद्रियाँ तुमपर विजय प्राप्त करें और उसमें तुम सुख समझो, उसकी अपेक्षा तुम उनके ऊपर विजय प्राप्त करने में ही सुख, आनन्द और परम पद प्राप्त करोगे।

कलिकाल ने मनुष्य को स्वार्थपरायण और मोह के वश कर दिया है। जिसका हृदय शुद्ध सन्त के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से चलता है, वह धन्य है। सत्संग के अभाव से चढ़ी हुई आत्मश्रेणी का प्रायः पतन हो जाता है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

रत्न कणिका

(श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत से)

- तू चाहे जिस धर्म को मानता हो, उसका मुझे पक्षपात नहीं। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस राह से संसार–मल का नाश होता हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचार का तू सेवन करना।

- मैं किसी गच्छ में नहीं, आत्मा में हूँ–यह नहीं भूलना....। जैसे भी हो, राग–द्वेषरहित होना–यही मेरा धर्म है।

- मैं देह आदि स्वरूप नहीं हूँ तथा देह, स्त्री और पुत्र आदि कोई भी मेरा नहीं हैं। मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप और अविनाशी आत्मा हूँ। ऐसी आत्म-भावना करने से राग–द्वेष का क्षय होता है।

- यदि तू समझदार बालक हो तो विद्या और आज्ञा की ओर दृष्टि कर....।

- यदि तू युवा हो तो उद्यम और ब्रह्मचर्य की ओर दृष्टि कर।

- यदि तू वृद्ध हो तो मृत्यु की ओर दृष्टि करके आज के दिन में प्रवेश करना....।

- यदि तू स्त्री हो तो अपने पति के प्रति अपनी धर्मकरणी को याद कर। यदि कोई दोष हुआ हो तो उसकी क्षमा मांग और अपने कुटुंब की ओर दृष्टि कर।

- तू राजा हो अथवा रंक–कोई भी हो, परन्तु इस विचार को मनमें रखकर सदाचार की ओर प्रवृत्त होना कि इस शरीर के पुद्गल को थोड़े समय के लिए केवल साढ़े तीन हाथ जमीन की आवश्यकता होगी।

- मूल वस्तु का ज्ञान, जो देह–मंदिर का निवासी शाश्वत पदार्थ है, उसे जान।

अनन्त काल से जीव को असत् वासना का अभ्यास पड़ा हुआ है। उसमें एकदम सत् सम्बन्धी संस्कार स्थित नहीं रहते। जैसे मलिन दर्पण में जैसे चाहिए वैसे प्रतिबिम्ब के दर्शन नहीं हो सकते; वैसे ही असत् वासना से युक्त मन में सत् सम्बन्धी संस्कार, जैसे चाहिए वैसे, प्रतिबिम्बित नहीं होते।

परिभ्रमण करता हुआ जीव अनादिकाल से अब तक भी अपूर्व को प्राप्त नहीं कर सका। जो कुछ उसने प्राप्त किया है, वह सब पूर्व से ही चला आता है।

यह चौदह राज लोक मायामय अग्नि से प्रज्वलित है। इस माया में जीव की बुद्धि रची–पची पड़ी है, और इससे जीव भी त्रिविध तापाग्नि से जला करता है। उसके लिए परम कारुण्य मूर्ति का उपदेश ही परम शीतल जल है।

जो मुमुक्षु जीव गृहस्थ व्यवहार में आचरण करता हो, उसे तो अखंड नीति का मूल पहले आत्मा में ही स्थापित करना चाहिए, अन्यथा उपदेश आदि सब निष्फल हैं।

'मुमुक्षुता' वह है कि सब प्रकार की मोहासक्ति से विरक्त होकर केवल मोक्ष के लिए प्रयत्न करना। 'तीव्र मुमुक्षुता' उसे कहते हैं कि मोक्ष मार्ग में प्रत्येक क्षण अनन्य प्रेमपूर्वक आचरण करना।

जिस कुल में जन्म हुआ है और जिसके सहवास में जीव रहता आया है, वहाँ अज्ञानी जीव ममत्व करता है और उसी में डूबा रहता है।

वर्तमान काल दुःषमकाल है। मनुष्य का मन भी दुःषम ही देखने में आता है। प्रायः परमार्थ से शुष्क अन्तःकरण वाले जीव परमार्थ का दिखावा करके अपनी इच्छानुसार आचरण करते हैं।

- यह लोक त्रिविध ताप से व्याकुल है। यह जीव ऐसा दीन है कि मृगजल के लिए दौड़ता हुआ अपनी तृषा को छिपाना चाहता है। अज्ञान के कारण निजरूप का विस्मरण हो जाने से वह भयंकर परिभ्रमण में पड़ गया है।

- सब जीव दुःख की निवृत्ति चाहते हैं तथा दुःख की निवृत्ति, दुख पैदा करने वाले राग—द्वेष और अज्ञान आदि की निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं।

- कल्याण—मार्ग और परमार्थ—स्वरूप को भलिभांति न समझने वाले अज्ञानी जीव अपनी मति—कल्पना से मोक्ष—मार्ग की कल्पना कर, विविध उपायों का अवलंबन लेकर आचरण करते हुए भी, मोक्ष पाने के बदले, संसार में परिभ्रमण करते हैं। यह देखकर निष्कारण ही करुणाशील हमारा हृदय रो पड़ता है।

- जगत् की दृष्टि से जीव ने पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है, ज्ञानी की दृष्टि से नहीं। जिस जीव ने ज्ञानी दृष्टि से ज्ञान प्राप्त किया है, उस जीव को सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है।

- लोकदृष्टि का जब तक जीव वमन नहीं कर देता और उसके प्रति उसकी अन्तर्वृत्ति छूट नहीं जाती, तब तक ज्ञानी की दृष्टि का वास्तविक माहात्म्य ध्यान में नहीं आ सकता—इसमें सन्देह नहीं।

- ज्ञानी की आज्ञा का आराधन वही कर सकता है जो एकनिष्ठापूर्वक, तन—मन—धन से आसक्ति का त्याग कर उसकी भक्ति में लग जाय।

- समस्त क्लेशों और समस्त दुःखों से छूटने का उपाय केवल आत्मज्ञान है। विचार के बिना आत्मज्ञान नहीं होता तथा असत्संग और असत् प्रसंग से जीव की विचार—शक्ति नहीं चलती, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

* ज्ञानियों द्वारा कल्पित सचमुच यह कलिकाल ही है। जनसमुदाय की वृत्तियाँ विषय, कषाय आदि के कारण विषमता को प्राप्त हो गयी हैं। इसकी बलवत्ता प्रत्यक्ष है।

* विषय के कारण जिसकी इंद्रियाँ पीड़ित हैं, उसे शीतल आत्मसुख और आत्मतत्त्व कहाँ से प्रतीति हो!

* देह की तू जितनी चिन्ता रखता है, उससे अनन्त गुनी चिन्ता आत्मा की रख; कारण कि अनन्त भव को एक भव में दूर करना है।

* समर्थ पुरुष कल्याण का स्वरूप चिल्ला-चिल्ला कर कह गये हैं, किन्तु किसी बिरले को ही वह ठीक-ठीक समझ में आया है।

* हजारों उपदेशवचनों को श्रवण करने की अपेक्षा थोड़े से वचनों पर विचार करना विशेष कल्याणकारी है।

* भगवान् को सर्व समर्पण किये बिना, इस काल में जीव का देहाभिमान नष्ट होना संभव नहीं।

* कोई भी जीव परमार्थ की इच्छा करे और साथ ही व्यावहारिक संग में भी आसक्त रहे और फिर परमार्थ की प्राप्ती हो जाये—यह किसी काल में भी संभव नहीं।

* लौकिक और अलौकिक दृष्टि में बड़ा अंतर है। लौकिक दृष्टि में व्यवहार की मुख्यता है और अलौकिक दृष्टि में परमार्थ की।

* संसार को सुंदर दिखाने के लिए मुमुक्षु कुछ नहीं करता, किन्तु जो सुंदर है, वही आचरण करता है।

* हे जीव, तू भ्रम में है, तुझे हित की बात कहता हूँ। अन्तरंग में सुख है, बाहर खोजने से वह नहीं मिलेगा। अन्तरंग का सुख अन्तरंग की

समश्रेणी में है, उसमें स्थिति होने के लिए बाह्य पदार्थों का विस्मरण कर, आश्चर्य को भूल जा।

- अनित्य पदार्थ के प्रति मोह–बुद्धि होने के कारण आत्मा का अस्तित्व, नित्यत्व, और अव्याबाध समाधि सुख भान में नहीं आता।

- जो प्राणी ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर पाकर आनंदित होते हैं, वे मोह के आधीन हैं, और उन्हें परमार्थ का पात्र होना दुर्लभ है।

- माया सम्बन्धी सुख की सब प्रकार की इच्छा को जब भी हो, छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है। इसलिए जब से इस वाक्य का श्रवण किया तभी से उस क्रम का अभ्यास करना योग्य है–ऐसा समझना चाहिए।

- चाहे जिस क्रिया, जप, तप और शास्त्रों का पठन करने के बाद भी एक ही कार्य सिद्ध करना है और वह यह कि संसार को भूल जाना और सत् के चरणों का आश्रय लेना।

- अनादि काल के परिभ्रमण में अनन्त बार शास्त्र का श्रवण, अनन्त बार विद्या का अभ्यास, अनन्त बार जिन–दीक्षा और अनन्त बार आचार्यपद प्राप्त हुआ है, केवल 'सत्' ही नहीं मिला, 'सत्' का ही श्रवण नहीं किया, 'सत्' की ही श्रद्धा नहीं की, और यदि यह मिल जाये इसे श्रवण कर लिया जाये और इस पर श्रद्धा की जाये तो ही मुक्त होने की भणकार आत्मा से निकलेगी।

- 'सत्' सत् ही है; वह सरल है, सुगम है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है, परन्तु 'सत्' को बतानेवाला 'सत्' चाहिए।

- महात्माओं ने चाहे जिस नाम से और चाहे जिस आकार से, एक 'सत्' का ही प्रकाश किया है। उसी का ज्ञान करना चाहिए, उसी की प्रतीति

करनी चाहिए, वही अनुभव–रूप है, और उसी को परम प्रेमपूर्वक भजना चाहिए ।

- जो देह है, वह आत्मा नहीं; जो आत्मा है, वह देह नहीं । जैसे घड़े का द्रष्टा घड़े से भिन्न रहता है, उसी प्रकार देह का द्रष्टा आत्मा देह से भिन्न है, अर्थात् वह देह नहीं ।
- ऐसे एक ही पदार्थ का परिचय करना योग्य है कि जिसमे अनन्त प्रकार का परिचय निवृत्त हो जाता है । वह कौनसा ? और किस प्रकार ? इसका विचार मुमुक्षु किया करते हैं ।
- इस क्षणभंगुर संसार में सत्पुरुष का समागम ही अमोल और अनुपम लाभ है ।
- धर्म बहुत गुप्त वस्तु है, बाहर खोजने से वह नहीं मिलता । अपूर्व अन्तर के संशोधन से ही उसकी प्राप्ति होती है । वह अंतर्संशोधन किसी भाग्यशाली सद्‌गुरु के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है ।
- सद्‌गुरु के उपदेश के बिना और जीव की सत्पात्रता के बिना, ऐसा होना रुक गया है । उसे पा कर, संसार के ताप से तप्त आत्मा को शीतल करना ही कृतकृत्यता है ।
- कर्म जड़ वस्तु है । जिस–जिस आत्मा का इस जड़ के साथ, जितनी–जितनी आत्मबुद्धि से सम्पर्क होता है, उतनी–उतनी आत्मा को जड़ता अर्थात् अबोधता की प्राप्ति होती है–ऐसा अनुभव होता है ।
- सांसारिक सुख की स्पृहा में जैसे–जैसे खेद होता है, वैसे वैसे ज्ञानी का मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है । गुप्त चमत्कार सृष्टि के लक्ष्य में नहीं । सत्पुरुष का योगबल जगत् का कल्याण करे ।
- समझ में आये बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं । सत्संग के बिना ध्यान तरंग रूप हो जाता है । सन्त के बिना अंत की बात में अंत की

प्राप्ति नहीं होती। लोकसंज्ञा से लोक के अग्रभाग में नहीं पहुँचा जाता। लोकत्याग के बिना वैराग्य का यथायोग्य प्राप्त करना दुर्लभ है।

- जीव को परिभ्रमण करते–करते अनन्त काल बीत गया, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह क्या करने से हो सकती है? इस वाक्य में अनेक अर्थ समाविष्ट हैं। उसका विचार किये बिना अथवा दृढ़ विश्वासपूर्वक झुरे (मनन) बिना, मार्ग के अंश का अल्प भान भी नहीं होता। दूसरे समस्त विकल्पों को दूर कर, एक इसी उपर्युक्त सत्पुरुषों के वचनामृत का बारम्बार विचार करना।

- जीव यदि पर–पदार्थ में निजबुद्धि करे तो वह परिभ्रमण दशा को प्राप्त करता है। और यदि निज में निजबुद्धि पैदा हो तो परिभ्रमण दशा दूर हो जाती है।

- क्रिया कर्म है, उपयोग धर्म है, परिणाम बंध है, भ्रम मिथ्यात्व है, ब्रह्म आत्मा है और शंका शल्य है। शोक को स्मरण नहीं करना, यही उत्तम वस्तु ज्ञानियों ने मुझे दी है।

- दृढ़ निश्चय करना कि बाहर जाने वाली वृत्तियों को क्षय कर अन्तर्वृत्ति रखना, यही ज्ञानियों की आज्ञा है।

- सब प्रकार की क्रिया, योग, जप, तप और शेष बातों का लक्ष्य ऐसा रखना कि आत्मा को छुड़ाने के लिए ही सब कुछ है, आत्मा के लिए नहीं। जिससे बंधन हो (क्रिया से लगाकर समस्त योग आदि तक) उन सब बातों का त्याग करना ही उचित है।

- आरंभ और परिग्रह की इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो वह आत्मलाभ का विशेष घातक है, तथा बारम्बार अस्थिर, और अप्रशस्त परिणाम का हेतु है इसमें संशय नहीं।

- जीव को अंतकाल में यम दुखदायी न लगता हो, किन्तु हमें तो संग दुखदायी लगता है।
- हाल में तो 'सत्' अप्रकट दिखाई देता है। भिन्न–भिन्न चेष्टाओं द्वारा वह हाल में प्रकट जैसा मानने में आता है (जैसे योग आदि साधन, आत्मा का ध्यान, शुष्क वेदान्त से अध्यात्म का चिन्तन आदि द्वारा), पर वह वैसा नहीं है।
- 'इस जीव को यह देह' ऐसा, भेद जो भास्यो नहीं,
पचखाण किया तब भी, मोक्षार्थ वह भाख्या नहीं। १
- अनादिकाल से महाशत्रु रूप रागद्वेष और मोह के बंधन में बंधा हुआ जीव अपने संबंध में विचार नहीं कर सकता।
- यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने के सम्बन्ध में प्रवेश होने के वास्ते जीव के लिए वैराग्य और उपशम को साधन कहा गया है।
- जगत् जैसा है, वैसा तत्वज्ञान की दृष्टि से देखो....संसार के ताप से अत्यन्त तप्त इस आत्मा को शीतल करना ही कृतकृत्यता है।
- पांव रखने में पाप है, देखने में ज़हर है, और सिर पर मृत्यु नाच रही है–यह विचार कर आज के दिवस में प्रवेश कर।
- हे जीव, इस क्लेश रूप संसार से विराम कर, विराम कर। कुछ विचार प्रमाद छोड़कर जागृत हो, जागृत हो। अन्यथा रत्न–चिंतामणि के समान यह मनुष्य देह निष्फल हो जायेगा।
- जिसे लगी है, उसे ही लगी है। और उसी ने जानी है। वही 'पी पी' (पियु) पुकारता है। इस ब्राह्मी वेदना को कैसे कहा जाये? जहाँ कि वाणी का भी प्रवेश नहीं। अधिक क्या कहें? जिसे

---

१ "आजीव ने आ देह" एवो, भेद जो भास्यो नहीं,
पचखाण कीधां त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्यां नहीं।

लगी है उसे ही लगी है, उसी के चरणों की शरण संग से मिलती है और जब मिलती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा कोई सुगम मोक्ष मार्ग है ही नहीं।

- जगत् के समस्त जीव कुछ न कुछ पाकर सुख प्राप्त करने की इच्छा करते हैं–किन्तु अहो! ज्ञानियों ने तो उससे विपरीत ही सुख के मार्ग का निर्णय किया है। किंचित् मात्र भी ग्रहण करना–यही तो सुख का नाश है।

- जिस–जिस प्रकार से आत्मा आत्मभाव प्राप्त करे, वे सब धर्म के प्रकार हैं। आत्मा जिस प्रकार से अन्यभाव को प्राप्त करे, वे सब अन्यरूप हैं, धर्मरूप नहीं।

- ज्ञानी के वचन सुनकर उल्लसित हुआ जीव, चेतन और जड़ को भिन्न रूपसे ठीक–ठीक प्रतीति करता है, उसका अनुभव करता है और क्रम से स्वरूपस्थ हो जाता है।

- ध्यान के अनेकानेक प्रकार हैं। इन सबमें श्रेष्ठ है आत्मा और जिसमें यह आत्मा मुख्य रूप से रहती है, उसे ध्यान कहते हैं। और इसी आत्म–ध्यान की प्राप्ति, प्रायः आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना नहीं होती।

- जिनेंद्र का सिद्धान्त है कि किसी भी काल में जड़ जीव नहीं होता, और जीव जड़ नहीं होता। उसी प्रकार 'सत्' कभी 'सत्' के सिवाय अन्य किसी साधन से उत्पन्न नहीं हो सकता।

- अनन्त काल से जो ज्ञान भव का कारण था, उस ज्ञान को एक समय मात्र में जात्यंतर करके, जिसने भव को निवृत्ति रूप कर दिया, उस कल्याण–मूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार हो! ....आश्चर्यकारक बात तो यह है कि कलिकाल ने, थोड़े ही समय में परमार्थ को घेरकर, अनर्थ को ही परमार्थ बना डाला है।

परिभ्रमण हुआ सो हुआ, अब यदि उसका प्रत्याख्यान कर लें तो ! वह किया जा सकता है....एक बार यदि समाधिमरण हो जाये तो सदा के लिए असमाधिमरण दूर हो जायेगा।

- उपयोग को शुद्ध करने के लिए, इस जगत् के संकल्प–विकल्प को भूल जाना।

- संग के संयोग से यह जीव सहज स्थिति को भूल गया है। संग की निवृत्ति से सहज स्वरूप का अपरोक्ष भान प्रकट होता है।

- सहज स्वरूप से जीव रहित नहीं है, फिर भी उस सहज स्वरूप का भान मात्र जीव को नहीं। उसका होना ही सहज स्वरूप स्थिति है।

- यह परम तत्व है, इसका मुझे हमेशा निश्चय रहे। यह यथार्थ स्वरूप मेरे हृदय में प्रकाश करे, और जन्म–मरण आदि बंधन से अत्यन्त निवृत्ति हो ! निवृत्ति हो ! !

- जिन्हें तीनों कालों में देह आदि से अपना कोई भी सम्बन्ध न था, ऐसी असंग दशा जिन्होंने पैदा की, उन भगवान रूप सत्पुरुषों को नमस्कार हो।

- देह से भिन्न स्वपर प्रकाशक परम ज्योति स्वरूप यह आत्मा है; उसमें निमग्न होओ। हे आर्यजनो, अन्तर्मुख होकर, स्थिर होकर, उस आत्मा में ही रहो तो अनंत अपार आनंद का अनुभव करोगे।

- जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा, और मरण का नाश करनेवाले स्वरूप में सहज अवस्थित होने का उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषों को अत्यन्त भक्ति भाव से नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा का नित्य निरन्तर स्तवन करने से भी आत्मस्वभाव प्रकट होता है।

हम देहधारी है! ऐसा स्मरण करने पर मुश्किल से ही आम पाते हैं—परमानन्द रूप हरि को एक क्षण के लिए भी विस्मरण न करना, यही हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लेख का उद्देश्य है।

देह जीव एक भासता है अज्ञान से,
क्रिया की प्रवृत्ति भी उससे वैसी होती है ॥ १ ॥
जीव की उत्पत्ति औ रोग शोक दुःख मृत्यु
देह का स्वभाव जीव पद में जनाता है ॥ २ ॥
ऐसा जो अनादि रूप का मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानी के वचन से दूर हो जाता है ॥ ३ ॥
मैं कौन हूँ! कहाँ से हुआ? क्या स्वरूप है मेरा खरा?
किसके सम्बन्ध मे लगाव है यह? रक्खूँ या कि परिहरूँ ॥ ४ ॥
खान मूत्र औ मलकी रोग जरा का निवासधाम,
काया ऐसी गिनकर, मान छोड़कर औ कर सार्थक इसको ॥ ५ ॥
सब साधन बंधन हुए रहा न कोई उपाय,
सत् साधन समझा नहीं, फिर बंधन क्यों जाय? ॥ ६ ॥

---

१ देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे।
२ जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु,
देह नो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे।
३ एवो जे अनादि एकरूप नो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानिना वचन वडे दूर थई जाय छे।
४ हुं कोण छुं क्याथी थयो? शुं स्वरूप छे मारूं खरूं?
कोना संबंधे वळगणा छे? राखुं के ए परिहरूं?
५ खाण मूळ ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम,
काया एवी गणी ने, मान त्यजीने कर सार्थक आम।
६ सहु साधन बंधन थया, रह्यो न कोई उपाय,
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय?

हे जीव ! क्या इच्छित अवे, है इच्छा दुःखमूल
जब इच्छा का नाश तब, मिटै अनादि भूल ॥ ७ ॥
इस सारे संसार की रमणी नायक रूप,
यह त्यागा त्यागा सबै केवल शोक स्वरूप ॥ ८ ॥
क्या करने से स्वयं सुखी, क्या करने से स्वयं दुखी
स्वयं क्या ? आया कहाँ से ? इसका मांगो शीघ्र जवाब ॥ ९ ॥
'आत्मा है' 'वह नित्य है', है कर्ता निज कर्म,
'है भोक्ता' फिर 'मोक्ष है', 'मोक्ष उपाय सुधर्म ॥ १० ॥
घट पट आदि जान तू, इससे उन्हें मान,
जानकार को मानत नहीं, कहे कैसा ज्ञान ? ॥ ११ ॥
भास्यो देहाभ्यास से, आत्मा देह समान,
पर वे दोनों भिन्न है, जैसे असि औ म्यान ॥ १२ ॥
जन्म जरा औ मृत्यु, मुख्य दुःख के हेतु,
कारण उसके दो कहे, राग द्वेष बिन हेतु ॥ १३ ॥

---

७ हे जीव, क्या इच्छित हवे ? है इच्छा दुखमूल,
जब इच्छा का नाश तब, मिटै अनादि भूल,

८ आ सघळा संसारनी, रमणी नायक रूप,
ए त्यागी त्याग्युं बधुं, केवल शोक स्वरूप ।

९ शुं करवाथी पोते सुखी ? शुं करवाथी पोते दुखी ?
पोते शुं ? क्यांथी छे आप ? एनो मागो शीघ्र जवाब ।

श्रीमद् राजचन्द्र

१० 'आत्मा छे', 'ते नित्य छे', 'छे कर्ता निज कर्म',
'छे भोक्ता', वळी 'मोक्ष छे', 'मोक्ष उपाय सुधर्म' ।

११ घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान,
जाणनार ते मान नहि, कहीए केवुं ज्ञान ?

१२ भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान,
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ।

१३ जन्म जराने मृत्यु, मुख्य दुखना हेतु,
कारण तेना बे कह्या, राग द्वेष अण हेतु ।

जहर सुधा समझे नहीं, जीव खाय फल होय,
जैसे शुभाशुभ कर्म का भोक्तापना कहाय ॥ १४ ॥

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम,
दूजा कितना कहिये, कर विचार तो पावै ॥ १५ ॥

जहाँ प्रगटै सुविचारणा, तहाँ प्रगटै निजज्ञान,
इस ज्ञान से क्षय मोह हो, पावै पद निर्वान ॥ १६ ॥

मूलद्रव्य उत्पन्न नहीं, नहीं नाश भी वह,
अनुभव से वह सिद्ध है, भाखा जिनवर यह ॥ १७ ॥

रे आत्म तारो, आत्म तारो, शीघ्र इसे पहचानो,
सब आत्माओं में समदृष्टि रखो, इस वचन को मन में धारो ॥ १८ ॥

गच्छ मत की जो कल्पना, वह नहीं सद्व्यवहार,
भान नहीं निजरूपका, वह निश्चय नहीं सार ॥ १९ ॥

उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार,
अन्तर्मुख अवलोकतै, विलय होत नहीं देर ॥ २० ॥

---

१४ झेर–सुधा समजे नहि, जीव खाय फल थाय,
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ।

१५ शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम,
बीजुं कहीए केटलुं ! कर विचार तो पाम ।

१६ ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान,
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ।

१७ मूळ द्रव्य उत्पन्न नहिं, नहि नाश पण तेम,
अनुभव थी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ।

१८ रे आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओळखो,
सर्वात्म मां समदृष्टि द्यो, आ वचनेन हृदये लखो ।

१९ गच्छ मतनी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार,
भान नहि निजरूपनुं, ते निश्चय नहि सार ।

२० उपजे मोह विकल्पथी, समस्त आ संसार,
अंतर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार ।

राग द्वेष अज्ञान यह, मुख्य कर्म की ग्रन्थि,
होय निवृत्ति जिससे, वही मोक्ष का पंथ ॥ २१ ॥

मोह भाव जहाँ नाश हो, अथवा होत प्रशान्त,
वह कहिये ज्ञानी दशा, बाकी कहिये भ्रान्त ॥ २२ ॥

सकल जगत उच्छिष्टवत्, अथवा स्वप्न समान,
वह कहिये ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान ॥ २३ ॥

ज्ञान ध्यान वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार,
जो भावे शुभ भावना, वह उतरे भव पार ॥ २४ ॥

जब जान्यो निज रूप को, तब जान्यो सब लोक,
नहिं जान्यो निज रूपको, सब जान्यो सो फोक ॥ २५ ॥

देह रहे जिसकी दशा, रहती देहातीत,
उस ज्ञानी के चरण में, बन्दन हो अगणीत ॥ २६ ॥

---

२१ रागद्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ,
थाय निवृत्ति जेहथी तेज मोक्ष नो पंथ।

२२ मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत,
ते कहीए ज्ञानी दशा, बाकी कहीए भ्रांत।

२३ सकळ जगत् ते एंठवत्, अथवा स्वप्न समान,
ते कहीए ज्ञानी दशा, बाकी वाचाज्ञान।

२४ ज्ञान, ध्यान, वैराग्यमय, उत्तम जहां विचार,
ए भावे शुभ भावना, ते उतरे भव पार।

२५ जब जान्यो निज रूप को, तब जान्यो सब लोक,
नहीं जान्यो निजरूप को, सब जान्यो सो फोक।

२६ देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां, हो! वंदन अगणीत॥

श्रीमद् लघुराज स्वामी के उपदेश वचन

(श्रीमद् लघुराज स्वामी के उपदेशामृत से)

- मोहनिद्रा में समस्त संसार सोया पड़ा है। उसको उपदेश बोधरूप लकड़ी मारकर ज्ञानी को तुम्हें जगाना है, अब अधिक सोने नहीं देना है। तुम आत्मा हो। ज्ञानी ने जगह-जगह आत्मा के दर्शन किये हैं। वैसी शुद्ध आत्मा मेरी है, वह मैं हूँ; और कुछ मैं नहीं हूँ, और कुछ मेरा नहीं है—ऐसा विश्वास पैदा करा दो। आत्मा का माहात्म्य समझ में नहीं आया, इससे आत्मदर्शन की दृष्टि नहीं होती। सत्संग के उपदेश पर जैसे ध्यान दोगे, वैसे-वैसे समझ पैदा होगी। समझ आने से दृष्टि फिरेगी।

- परन्तु कमी किस बात की है? पूर्व कर्म और पुरुषार्थ की।

- धर्म नहीं समझा, और पहचान न हुई तो मनुष्य होकर भी पशु है।

- मनुष्य भव को दुर्लभ कहा है। यदि वह सोच ले तो थोड़े ही समय में मोक्ष मिल जाये-सर्व सुख की प्राप्ति हो जाये। लेकिन फिर भी वह जीव स्वच्छंद भाव से अपनी इच्छापूर्वक और अपनी समझ से जो आचरण करता है, वह इस जीव को महादुर्गति का-दुख का-कारण होगा। उस समय कौन छुड़ाने के लिए समर्थ हो सकेगा? फिर से ऐसा योग कहाँ मिलेगा? यदि चिंतामणि के समान यह अवसर नष्ट हो गया तो फिर पृथ्वी, जल और निगोद में अनंत काल भ्रमण करना पड़ेगा। उस पर दया करने का यह अवसर है या नहीं? यदि जीव श्रद्धा रखकर अपने हित-अपने कल्याण-के लिए सचेत न हो तो फिर उसका परिणाम खोटा ही हो।

- सब कुछ छोड़ना होगा। जहाँ-जहाँ मेरा-मेरा किया है, वहाँ से उठ जाना होगा। मेरी एक आत्मा है, उसके सिवाय जगत् के पदार्थों में से एक परमाणु भी मेरा नहीं।

- नाम से आत्मा की पहचान नहीं होगी, अंतर्दृष्टि करो। चर्मचक्षु से आत्मा के दर्शन न होंगे।

- मनुष्य जन्म महादुर्लभ है। तुम मेहमान हो; देखते-देखते देह नष्ट हो जायेगी। अपूर्व कमाई कर लेने का अवसर अब नष्ट हो रहा है; इसलिये जागृत होओ, प्रमाद न करो। यदि कुछ अभद्र हुआ हो तो केवल लौकिक दृष्टि से ही हुआ है।

- यह संसार परिभ्रमण का कारण क्यों है ? क्योंकि जीव राग, द्वेष और मोह के ऐसा आधीन हो गया है कि अपना स्वरूप वह भूल गया है। अभी भी वह मामा, चाचा और भाई आदि को मानता है और वह इस जीवन को ही महत्व दे रहा है। परन्तु इस तरह तो उसने कितने ही जन्म बिता दिये और वह दुख का भागी बना है। इसलिए उससे छूटने का भाव जागृत होना चाहिए।

- तुम मेहमान हो, परदेसी हो; यह पक्षियों का मेला है। बनकी मारी कोयल है, इसलिए कुछ करना।

- इस संसार जैसा कोई खोटा नहीं। समस्त संसार त्रिविध ताप से तप रहा है। सुख कहाँ है ! सब तूफान है, महा दुखरूप है। हमें तो और कुछ कहना नहीं है। आत्मा की अधिक संभाल करना। आत्मा की ही चिन्ता, उसका समागम और परिचय करना।

- मेरा स्वरूप तो ज्ञान-दर्शन और चारित्रमय आत्मा ही है, और उससे जो भिन्न है वह विनाशी है, फिर उसका क्या खेद ?

- आत्मा की पहचान होने पर ही छुटकारा है। मुझे या तुम्हें पहचान हुए बिना छुटकारा नहीं।

- आत्मा से आत्मा की पहचान करना है। जैसी आत्मा सिद्धों की है, वैसी ही मेरी है।

आत्मा तीन लोकों में सार भूत है। आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जाये? उपयोग द्वारा उसे ग्रहण किया जा सकता है। आत्मा को ज्ञानी ने जाना है। वह मुझे मान्य है। इस श्रवण बोध के प्रति जिसकी अविचल श्रद्धा रहेगी उसका कल्याण है।

जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति में अपना चित्त लगाती है, वैसे ही यदि मुमुक्षु सत्पुरुष में, और उसके उपदेश में अपना चित्त लगाये तो दाल के साथ रोटी चढ़े, गाड़े के पीछे गाड़ी चले।

माया है वह छोड़ने जैसी है। उससे बहुत हानि पहुँचती है। जिसे आरंभ और परिग्रह के ऊपर ममत्व और मूर्च्छा है, वह दुखी है। इसलिए मनुष्य भव में सचेत होना चाहिए.... 'मेरा बाप, मेरी मां, मेरा धन, मेरा कुटुंब'—यह सब माया है। खराब—से—खराब तृष्णा है।

देह मेरा, भाई मेरा, बाप मेरा, चाचा मेरा, घर मेरा—यह कहते और मानते हुये गले में फांसी लग जायेगी।

संसार का सेवन करना और मोक्ष की प्राप्ति होना—यह दोनों कैसे संभव है? संसार के भोग—वैभव में रहना, संसार सेवन में प्रेमभाव रखना वृत्ति का ठगा जाना है। क्या मार्ग ऐसा ही होगा? विशेष क्या कहें!

जीव अनंत कालचक्र से, मिथ्या अज्ञान के कारण परिभ्रमण करता हुआ, भूलभुलैयाँ में पड़ता आया है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? इसका उसे भान नहीं। इस प्रकार आत्मा का भान भूलकर जीव मोहनीय कर्म के उदय से, विषय—कषाय और राग—द्वेष के कारण जो सुख—दुख मानता है, वह सब मिथ्या है—यह बात जीव ने समझी नहीं और वह बंधन से मुक्त हुआ नहीं। अज्ञान के कारण अनंत काल बीत जाने पर भी जीव ने अपनी कल्पना से सुख—दुख मान, धर्म—अधर्म को स्वयं अपनी इच्छानुसार समझ, परिभ्रमण के कारण का सेवन किया है, सेवन करता है और सेवन करता रहेगा—यह तीर्थंकर आदि ने कहा है।

ज्ञानी को कमी किस बात की ? वह सम्यक्त्व देता है, मोक्ष देता है; किन्तु सब जीव का ही दोष है ।

ज्ञानी पुरुष के वचनों में दृष्टि—अन्तर्दृष्टि—न रखते हुये इस जीव ने लौकिक दृष्टि के कारण सब सामान्य कर डाला है, इससे आत्मभाव का स्फुरण नहीं होता । सत्संग अमूल्य लाभ है, उसे मनुष्य भव में प्राप्त करना योग्य है । सत्संग की आवश्यकता है, इससे मनुष्य भव में सम्यक्त्व का अपूर्व लाभ मिलता है—इस सम्बन्ध में जीव ने अनन्त काल से विचार नहीं किया । तथा 'मै ऐसा करता हूँ, ऐसा करूँ' इस प्रकार का अहं और ममत्व भाव जीव को रहता है । यदि वह असावधानी करेगा तो बार—बार पश्चाताप होगा । सावधान रहना चाहिये । अधिक क्या कहें ?

मेरे पड़ोस में कौन है ? शरीर । उसका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । वह मुझसे भिन्न है ।

यह जीव अनादि काल से अपनी मति कल्पना से धर्म मानकर, धर्म की आराधना करने का प्रयत्न करता है । इससे वह मूल धर्म को नहीं पा सका । मिथ्या मोह के कारण अनंत संसार में अनंतानंत जीव परिभ्रमण करते हैं । वह जीव की स्वच्छन्द कल्पना है । जिनागम में वर्णन की हुई इस भूल को ज्ञानी पुरुष देखकर, विचार कर और उसे दूर कर, अपने निज स्वरूप मूलधर्म सम्यग्दर्शन—ज्ञान और चारित्र में स्वयं परिणमन करता है । यही कर्तव्य है ।

जो जो जन्मा है, उसका किसी—न—किसी निमित्त से मरण अवश्यंभावी है । महान अतिशय के धारक श्री तीर्थंकर भी नाशमान देह को अविनाशी नहीं बना सके । तो फिर आयु का उपभोग करते हुए, आने वाली मृत्यु को और कौन रोक सकता है ? ....देर या सबेर हमें भी इस मृत्युकी कसौटी को पार करना है ।

महान् पुरुषों ने आयु की अंतिम घड़ी को ही मृत्यु नहीं कहा। किन्तु प्रत्येक क्षण में आयुकी डोर घटती जाती है। अमुक अमुक क्षण जो विभाव में गया, वह मृत्यु ही है। विभाव परिणति जिसकी रुकी नहीं, उसे ज्ञानी पुरुषों ने चलता-फिरता मुर्दा ही कहा है। जितना समय स्वभाव दशा में व्यतीत होता है, ज्ञानियों ने उसे जीवन कहा है। बाकी का समय तो जीव मरने में ही व्यतीत करता है। इस हिसाब से अपने जीवन की जो घात चल रही है, उसी का खेद करना है।

समभाव रखकर बांधे हुए कर्मों को भोगने से ही छुटकारा है। स्वयं बांधा हुआ कर्म अपने आपको ही भोगना पड़ता है। यदि वैसा कर्म अच्छा न लगता हो तो ऐसी चिन्ता रखनी चाहिए जिससे कि वैसे कर्म का बंध न हो। अर्थात् राग-द्वेष छोड़कर समभावपूर्वक उस कर्म को भोग लेना चाहिए जिससे कि नया कर्म न बंधे।

यदि समझमें आ जाये तो सहज है। छोड़े बिना छुटकारा नहीं। अन्त में देह को भी छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए इस बात की ओर कुछ ध्यान देना चाहिये। वास्तव में सचेत होने की जरूरत है। इस अवसर को हाथ से खोना योग्य नहीं। माया और मोह के कारण सब अनिष्ट हो जाता है।

इस संसार में मोह जैसी और कोई खराब वस्तु नहीं। सबसे बड़ा शत्रु मोह है। एक सद्गुरू ही उससे छुटकारा दिला सकता है। उसे याद करो। तू दूसरी वस्तु में तल्लीन रहता है, और जहाँ कर्तव्य है वहाँ प्रेम नहीं। यदि राग करना है तो सत्पुरुष पर करना चाहिये। तू उसके वचन ग्रहण नहीं करता। अनादि काल से जीव विषय-कषाय और भोग-विलास में पड़ा है। सारा संसार त्रिविध ताप से जला करता है। यदि दृष्टि हटाओ तो ताला खुल जाये।

कृपालु देव का वचन है कि जीव को सत्संग ही मोक्ष का परम साधन है। उपदेश और सत्संग के समान संसार से पार उतरने का और कोई साधन नहीं। सत्संग के कारण तिर्यंच गति के जीवों को भी सत्पुरुष के बोध से देवगति पाकर सम्यक्त्व पाकर मोक्ष मिला है। ऐसी कथाएँ शास्त्र में आती हैं। इसलिये जीवन में सत्संग अत्यन्त आवश्यक है। उससे सम्यक्त्व मिलता है और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। सत्संग की प्राप्ति होने पर भी जीव को उस सत्संग की पहचान नहीं हुई। उसका विचार जीव ने किया नहीं। विचार करके निश्चय किया नहीं कि यही आत्मा है। श्रवण करके जीव ने उन वचनों का परिणामन नहीं किया। अन्यथा फल प्राप्त हुये बिना न रहता। कमी केवल योग्यता की है।

सबका स्नान और सूतक करके मरण—भोज करके चले जाओ। मृत्यु से निश्चिन्त हो जाओ।

सत्पुरुष का योगबल जगत् का कल्याण करे।

शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१०	बिल	बिल
१०	१४	...	बने हैं
११	१	बाह्यभ्यन्तर	बाह्याभ्यन्तर
११	८	जिसके	जिससे
१९	१२	दूना	दूजा
१०	२४	घाट बड़िया	घाट घड़िया
१२	१२	अवभास्यो रे	अवभास्यो रे
१३	४	जीव-मुक्त	जीवन मुक्त
१६	८	आत्माओं	आत्माओं
२२	७	राम क बाण	राम के बाण
२८	१५	सप्पक्ष	सम्पक्ष
३०	६	सम्यक्त्व	सम्यकत्व
३०	२३	बम्ब में	बम्बई में
३२	१३	वेलशीराव	वेलशीरत्न
३२	१३	नरसिंहराव	नरसिंहरत्न
३४	८	समागम	सत्समागम
४१	६	गवा है	गया है
४४	१०	सब मैं	सब में
४५	६	श्री मोहनलाल श्री	श्री मोहनलाल जी
४५	७	समाधिस्त	समाधिस्थ
४५	८	सनावद	सनावाद
५०	२४	ज्ञान प्राप्त का	ज्ञान प्राप्ति का
५४	२२	पठन-पठन	पठन-पाठन
५६	७	बिरलो	बिरले
७०	८	३० वर्ष	३७ वर्ष
७०	चित्रमें २	रसात	रसाल
	४	थे	ये
८६	१६	महष्य	मनुष्य
८६	२४	मूळ	सूत्र
९०	२०	से	छे
९१	२४	वचनेन	वचनने

"रे ! आत्म तारो !

आत्म तारो !

शीघ्र इसे पहचानो

सब आत्माओं में सम दृष्टि रक्खो

इस वचन को मन में धारो ।"

* * * *

"देह से भिन्न स्व पर का प्रकाशक

परमज्योति स्वरूप यह आत्मा,

उसमें निमग्न होओ ।

हे आर्यजनो, अंतमुख होकर, स्थिर होकर, उसी आत्मा में रहो तो अनंत अपार आनंद का अनुभव होगा ।"

—श्रीमद् राजचन्द्र

ॐ

श्रीमद् सद्गुरवे नमो नमः

अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु करुणासिंधु अपार ।
अहो ! अहो ! इस पामर पर प्रभु ने किया उपकार । १

क्या प्रभु के चरणों में धरूँ ? आत्मा से सब हीन,
वह (आत्मा को) तो प्रभु ने ही दिया, मैं रहूँ चरणाधीन । २

यह देहादि आज से रहे प्रभु आधीन,
दास दास मैं दास हूँ उस प्रभु का दीन । ३

षट् स्थानक* समझायकर भिन्न बताया आप,
म्यान से तलवार जैसे, यह उपकार अमाप । ४

जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुख अनंत,
समझाया वे पद नमूँ श्री सद्गुरु भगवंत । ५

परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परमज्ञान सुखधाम,
जिसने निज का भान दिया, उसको सदा प्रणाम । ६

देह रहे जिसकी दशा रहती देहातीत ।
उस ज्ञानी के चरण में वंदन हो अगणीत । ७

---

* 'आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है— यह छह स्थानक कहे गये हैं ।'

१ अहो ! अहो श्री सद्गुरु, करुणासिंधु अपार,
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ।

२ शुं प्रभु चरण कने धरूं, आत्माथी सौ हीन,
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ।

३ आ देहादि आज थी वर्तो प्रभु आधीन,
दास दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ।

४ षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप,
म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ।

५ जेह स्वरूप समज्या विना पाम्यो दुःख अनंत,
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत ।

६ परमपुरुष प्रभु सद्गुरु, परमज्ञान सुखधाम,
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ।

७ देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत,
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणीत ।

प्रणिपात स्तुति

हे परमकृपालु देव ! जन्म, जरा, मरणादि सब दुखों को अत्यन्त क्षय करनेवाले ऐसा वीतराग पुरुष का मूलमार्ग आप श्रीमद् ने अनन्त कृपा करके मुझे दिया, उस अनन्त उपकार का प्रति उपकार करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ; जबकि आप श्रीमद् कुछ भी ग्रहण करने में सर्वथा निस्पृह हो; जिससे मैं मन, वचन और काय की एकाग्रता से आपके चरणारविन्द में नमस्कार करता हूँ। आपकी परम भक्ति और वीतराग पुरुष के मूलधर्म की उपासना मेरे हृदय के लिये भवों तक अखण्ड जागृत रहे, इतना ही चाहता हूँ वह सफल हो ओ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः